शक्तिपूजा



श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला-४८ [48]



शक्ति-पूजा

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी

आचार्य महामण्डलेश्वर के

प्रवचन

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४९/९, मिश्र पोखरा
वाराणसी
२२१ ०१०

प्रथम संस्करण
शंकराब्द १२१४
वैक्रमाब्द २०५९
ख्रीष्टाब्द २००२

मूल्य : 70/- रुपये मात्र

मुद्रक :
महिम पत्रन प्रा. लि.,
आगरा

ॐ

प्राक्कथन

कल्याणलाभ जीवमात्रकी सहज अभिलाषा का विषय है। बहुधा आलस्यसे और कदाचित् अज्ञानसे कल्याण पाने में भले ही प्रवृत्ति न हो या ग़लत प्रवृत्ति हो, पर कल्याणकी इच्छा न रहे यह कभी नहीं होता। पुरुषार्थ का प्रथम सोपान इस इच्छा को प्रबल बनाना है जिससे इसकी पूर्ति केलिये हर संभव प्रयासमें लगा जा सके। इच्छा दृढ हो जाने पर साधनान्तर एकत्र करना अधिकारी के वशमें है—यह सांसारिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति दोनों केलिये समान है। इच्छा की तीव्रता बढ़े इसकेलिये इच्छित वस्तु का अधिकाधिक ज्ञान उपयोगी होता है यह भी अनुभवसिद्ध है। आत्मकल्याण की संभावना तब तक नहीं जब तक आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास न हो और वह प्रयास तभी संभव है जब जानकार आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करें। इसी उद्देश्यसे *श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम,* दिल्ली में लगभग पचास वर्षों से प्रतिदिन औपनिषद प्रकाशमें आत्मतत्त्व का विवेचन परमहंसों द्वारा किया जा रहा है कि साधक अपनी स्वाभाविक कल्याणेच्छा को प्रवृद्ध कर साधनामें अधिकाधिक प्रवृत्त होकर कल्याण प्राप्त करें। इसी क्रममें ईस्वी *सन् १९७१* में २९ मार्च से ८ अप्रैल तक भगवती के स्वरूप और उनकी उपासना के बारे में विचार व्यक्त किये थे जिन्हें आशुलेखपूर्वक टंकित तभी कर लिया गया था एवं अब पुस्तकाकार में प्रकाशित किया जा रहा है।

धर्म के विषय में अस्पष्टता रखने का रिवाज़ बढ़ रहा है जिसे सौहार्द के नाम पर प्रस्तुत किया जाता है। वस्तु के अज्ञानको बढ़ावा देना अवैज्ञानिक और घातक है। समझकर, निर्णयकर छोड़ना इससे बेहतर है कि उसे ठीक से जाना ही न जाये। ग़लती को ग़लत न बताना, अच्छे को सही न कहना—यह सौहार्द का उपाय नहीं वरन् सबकी हानिको ही बढ़ावा देने का साधन है। हमारा है इसलिये सनातन धर्म की विशेषता प्रकट न की जाये यह मिथ्या विनय है जिससे सभी इस धर्म के लाभसे वंचित होने की स्थितिमें पहुँच रहे हैं। 'प्राचीन परंपरानुसारी है अतः ग़लत ही होगा'—यह मानकर चलना आज बढ़ रहा है; परीक्षा, विचार, प्रयोग, विकास करने की दृष्टि घट रही है, अन्धविश्वास, अनुकरण की प्रवृत्ति में वृद्धि हो रही है। यद्यपि धर्म के स्वरूप व महत्त्व पर प्रायः चर्चा होती रहती है तथापि लगभग चौदह-पन्द्रह वर्ष पूर्व *'सनातन धर्म का सन्देश'* शीर्षक से एक वक्तव्य दिया गया था तथा *'सनातन धर्म और मानसिक शान्ति'* विषय पर तीन प्रवचन हुए थे। इन चारों का संग्रह भी परिशिष्टरूपसे इस पुस्तकमें समाविष्ट है। 'शक्तिपूजा' सनातन धर्म की ही अभिव्यक्ति है और मानसिक एवं सर्वविध शांति उसका ही फल है।

भगवान् उमारमण-रमारमण से यही प्रार्थना है कि संवित्स्वरूपा भगवती की वास्तविकता समझकर सभी साधक कल्याण के भागी बनें।

श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम,
श्रीराम मार्ग, दिल्ली
वासन्त नवरात्रारंभ २०५६

भगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

विषय सूची

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

शक्ति-पूजा

प्रवचन-१

नवरात्र में भगवती का पूजन किया जाता है। जिसकी पूजा की जाये उसका स्वरूप समझना आवश्यक है। यद्यपि केवल पूजा भी फल देती है तथापि सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् में यह बताया कि 'यदेव विद्यया उपनिषदा करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' यदि जानकर की जाये तो वह अधिक शक्तिमान् हो जाती है। उपनिषद्-विद्या ही ज्ञान है। उपनिषद् का अर्थ होता है जीव के बंधन को नष्ट करने वाला। उप, नि, षद्—तीन शब्दों से उपनिषद् निष्पन्न है। उप अर्थात् समीप, नि अर्थात् निश्चित रूप से। षद्लृ धातु के तीन अर्थ हैं--विशरण या ढीला कर देना, गति और अवसादन या नष्ट कर देना। अतः उपनिषद् वह हुई जो प्रथम संसार बंधन को ढीला कर दे, फिर संसार से परमात्मा की तरफ गति दे दे। कोई दण्डा कीचड़ में फँसा हो तो निकालने के लिए प्रथम ढीला किया जाता है। दीवार में लगी कील को निकालने से पहले दायें-बायें मार कर ज़रा ढीलाते हो। फिर हथौड़े का आंकुड़ा लगाकर खींचना गति है। अंत में कील का निकलना अवसादन है। इसी प्रकार जीव संसार में फँसा हुआ है, प्रथम इसको संसार के बंधन से ढीला करना आवश्यक है। जब ढीला होगा

तब परमात्मा की तरफ गति होगी।

जीव संसार के पदार्थों में फँसा है, उन पदार्थों में इसकी इष्ट-बुद्धि है। 'संसार के पदार्थ मुझे सुख पहुँचायेंगे' इस ज्ञान का नाम इष्ट-बुद्धि है। इसीलिये संसार में जीव फँसा हुआ है। बहुत से लोग कहते हैं कि माया फँसाती है, घरवाले अथवा कर्त्तव्य या प्रारब्ध फँसाता है। लेकिन वेदांत कहता है कि जहाँ कोई क्रिया होगी, वहाँ उसके पीछे चेतन होगा। जड स्वतः कोई क्रिया नहीं कर सकता। यदि एक घण्टे के बाद कोई देखे कि हमारे सामने वाला ध्वनि-प्रसारक यंत्र कोने में चला गया तो प्रश्न होगा कि इसे कोने में कौन ले गया ? लेकिन यदि कोई व्यक्ति उस कोने में चला जाये तो कोई नहीं पूछेगा। यहाँ फर्क जड और चेतन का है। जहाँ चेतन है, वहाँ स्वतंत्र क्रिया होगी, और जहाँ जड होगा वहाँ किसी चेतन के अधीन होगी। माया, संसार, प्रारब्ध आदि सब ही तो जड हैं। इसलिये जड प्रारब्ध, जड माया या जड कर्त्तव्य हमें कैसे फँसा सकता है ? हम चेतन हैं। हमें कोई नहीं फँसा सकता। हम तो स्वयं फँसते हैं क्योंकि हम चेतन हैं। मनुष्य समझता है कि कोई दूसरा फँसाने वाला सिद्ध हो तो हमारा दोष हट जाये। लेकिन यदि दूसरा फँसाने वाला सिद्ध हो तो तुम जड सिद्ध हो जाओगे। तब तुम्हारा मोक्ष असंभव हो जायेगा। यदि स्वतः फँसे हो, तभी निकल सकते हो। पराधीनता में कोई सुख नहीं है। तुम फँसे हो क्योंकि संसार के पदार्थों में तुमने इष्ट-बुद्धि कर ली है, अर्थात् 'ये पदार्थ हमारे सुख के कारण हैं' ऐसा मान लिया है। इसीलिये फँसे हो और कुछ नहीं है।

उपनिषद् वह शास्त्र है जो सबसे पहले हमारी इष्ट-बुद्धि को

ढीलाता है। जैसे-जैसे यह दृष्टि बनेगी कि संसार के पदार्थ सुख के साधन नहीं हैं, वैसे-वैसे संसारबंधन ढीला होता जायेगा। यदि संसार के पदार्थ सुख के साधन नहीं हैं तो सुख का साधन क्या है ? यह जिज्ञासा तुरंत उत्पन्न होगी। अनात्मपदार्थ सुख का साधन नहीं तो स्वभाव से मनुष्य का हृदय कहेगा कि सम्भवतः आत्मा ही सुख का साधन होगी। जैसे धूप में ठंडक नहीं यह जाना तो स्वभावतः आदमी छाया में यह मानकर जाता है कि उसमें ठंडक होगी, क्योंकि विरोधी है। इसी प्रकार इस अनात्मजगत् के अन्दर सुख नहीं तो तुरंत अगला कदम हो जायेगा कि आत्मा शायद सुख का साधन हो। अनात्मा में दुःख-बुद्धि उत्पन्न हो गई तो आत्मा की तरफ सुख-बुद्धि से प्रवृत्ति हो जाती है। उपनिषद् का यह दूसरा अर्थ 'गति' हुआ। इस गति को उपनिषद् दृढ करती है कि वह आत्मा आनन्दरूप है, संसार आनंदरूप नहीं है। इससे जीव संसार से ढीला हुआ। 'आत्मा आनंदरूप है' इस सम्भावना को अतिधन्य वेद ने दृढ कर दिया कि वह आत्मा आनंदरूप है। इसलिये उसमें इष्ट बुद्धि दृढ हुई, हम उस तरफ चल दिये, यह गति हुई। जब उस आत्मा को प्राप्त कर लिया तब सारी कामनाएँ पूर्ण हो कर अवसादन हुआ। अब संसार का बंधन सर्वथा नष्ट हो गया। जब तक उसकी प्राप्ति नहीं होगी, तब तक केवल सम्भावना रहेगी।

वेद कहता है, गुरु कहते हैं, एवं बड़े-बड़े ऋषि महर्षि कहते हैं कि आत्मा आनन्दरूप है। लेकिन यह सब कहना केवल सम्भावना को उत्पन्न करता है कि 'ये सब ठीक ही कहते होंगे।' जब प्राप्ति हो जायेगी तब संदेह की सम्भावना नहीं। जो जानकर,

इस ज्ञान के साथ पूजा करता है उसकी वह पूजा वीर्यवत्तर हो जाती है। वह वीर्यवत्तरता क्या है ? यद्यपि जितने भी शुभ कर्म हैं, वे सब सुख देते ही हैं, तथापि वे सारे सुख क्षणिक होते हैं। वीर्यवत्तर इसलिये हो जायेंगे कि अब उनसे उत्पन्न होने वाला आत्मसुख नित्य, अपरिच्छिन्न व असीम है। यही उसकी वीर्यवत्तरता है। जो कर्म बिना विद्या व उपनिषद् के क्षणिक सुख देने में समर्थ है, वही ज्ञान के साथ किये जाने पर असीम, अनंत, निरपेक्ष, अपरिच्छिन्न, नित्य आत्मसुख को उत्पन्न कर देता है। शुक्लयजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में बताया कि आत्मा की दृष्टि से जो पूजन करने वाला है वही कल्याण की प्राप्ति करता है।

नवरात्र में देवी का पूजन करते हैं। उसकी उपनिषद् विद्या क्या है ? जिसकी पूजा करते हो, उस देवता का क्या रूप है, इस पर संक्षेप में विचार करेंगे। स्कंद पुराण की सूत संहिता में शक्ति पूजा का विचार आया है कि शक्ति का रूप और पूजन क्या है ? उसीके आधार पर कुछ विचार करेंगे। संहितात्मक और खण्डात्मक भेद से स्कंद पुराण दो हैं। खण्डात्मक हमारे देश का सबसे सुन्दर भूगोल है। सारे तीर्थों का वर्णन इतने क्रमबद्ध और सुन्दर रूप से है कि सम्भवतः उन्नीसवीं शताब्दी में 'गज़ेटियर आफ इण्डिया' प्रकाशित होने से पहले उससे बड़ा कोई सुन्दर भूगोल नहीं बना। प्रधान जगहें, सुन्दर तालाब और कुएँ सब का वर्णन उसमें है। दूसरे संहितात्मक स्कंद पुराण में विचार की प्रधानता है। वेदान्त विषय का विस्तृत विचार उसमें है। सूत संहिता तो वेदान्त का अनुपम ग्रंथ ही है। उसमें जिसकी पूजा करते हैं, उस का स्वरूप बताते हुए कहा है कि

'संविदेव पराशक्तिः नेतरा परमार्थतः

अतः संविदि तां नित्यं पूजयेद् मुनिसत्तमाः।।'

सूत जी साठ हजार ऋषियों को तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए बताते हैं कि शक्ति का रूप क्या है ? संविद् ही वस्तुतः शक्ति का स्वरूप है। कोई शक्ति को जडरूप प्रकृति मानता है, कोई शक्ति को जड-चेतन उभयात्मिका मानता है, कोई शक्ति को ब्रह्म से भिन्न मानता है। लेकिन भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि वे सभी पक्ष वस्तुतः विचार करने पर नहीं ठहरते। क्यों नहीं ठहरते—इसे आगे बतायेंगे। पहले अपना सिद्धान्त बताते हैं।

संविद् ही पराशक्ति है। 'संविद् एव पराशक्तिः' में 'एव' पद किसी को व्यावृत्त करने के लिये लगा है। 'आप ही भोजन करने आइयेगा' अर्थात् पत्नी और बच्चों को साथ मत लाइयेगा। 'ही' हमेशा किसी को हटाने के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार यहाँ ब्रह्म से भिन्न जडरूपा, त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सम्भावना को हटाने के लिये 'एव' शब्द है। इस तत्त्व को न समझ कर जिनकी बुद्धि में सांख्य का कालुष्य प्रविष्ट हो चुका है, वे सोचते हैं कि देवी तो माया है। माया से साधक को क्या मतलब ? जिसे माया चाहिये वह इसकी पूजा करे। पर वस्तुतः यह माया की पूजा नहीं है। सप्तशती पर विचार करने से भी यही बात समझ में आती है। यहाँ भी वही बात स्पष्ट कह दी कि पराशक्ति संविद् ही है। सांख्य-बुद्धि वाले मनुष्य अंतःकरण में कालिख होने से इसे माया मानते हैं। वे ज्ञान को अज्ञान मानते हैं, वास्तव में ज्ञान अज्ञान है नहीं। ज्ञान और अज्ञान आपस में विरुद्ध हों ऐसा नहीं है, क्योंकि अज्ञान स्वतः ज्ञानरूप है। जब कहते हो कि 'मैं अज्ञ हूँ' तब भी

कहते यही हो कि 'मैं ज्ञानी हूँ' क्योंकि 'मैं अज्ञानी हूँ' इस बात का ज्ञानी हूँ—यही कह रहे हो। 'मैं अज्ञानी हूँ' यह स्वतः एक ज्ञान है। 'मुझे घड़े का अज्ञान है'—इस बात को जानते हो तब कहते हो कि 'मुझे घड़े का अज्ञान है'। अतः यह भी एक ज्ञान ही है। इसलिये अज्ञान कभी भी ज्ञान से भिन्न नहीं होता है। यहाँ शिवकृष्ण बैठा है, यह जानने के लिये मुझे सारे आदमियों में से एक शिवकृष्ण को जानना काफी है। लेकिन यह जानने के लिये कि शिवकृष्ण यहाँ नहीं बैठा है, यहाँ के सारे आदमियों को जानना ज़रूरी है कि वे शिवकृष्ण नहीं हैं। यदि एक को भी नहीं जाना तो नहीं कह सकते, क्योंकि हो सकता है कि वही शिवकृष्ण हो। अतः शिवकृष्ण का ज्ञान या अज्ञान दोनों ज्ञानरूप हैं। अज्ञान को लोगों ने ऐसे ही बदनाम कर रखा है। पहले तो अज्ञान भी ज्ञानस्वरूप ही है; और फिर जिसका अज्ञान है, उसे जानने के लिये भी ज्ञान आवश्यक है। संविद् ही एकमात्र पराशक्ति है, उससे विलग नहीं है। इतर रूप से प्रतीति है; वास्तव में इतर नहीं है।

बिना हुए इतर की प्रतीति क्यों होती है ? ज्ञान का स्वभाव है कि वह अपने से इतर करके जानता है। जिसे इतर बनाया, उसे देखते-देखते फिर वह उसे इतर ही समझने लगता है। विचार दृष्टि से देखते हैं तब वह इतर नहीं है लेकिन जब तक परमार्थ दृष्टि नहीं बनी तब तक केवल इतर ही दीखता है। इतरत्व दृष्टि वाला ही ज्ञानी है। अपने को जब तुमने ज्ञानी या ज्ञान वाला माना, तभी ज्ञान को अपने से इतर कर दिया। जैसे 'मैं धनी हूँ' कहा तो धन को अपने से अलग कर दिया, तभी कहा 'धन वाला मैं

हूँ। जब तक अपने से किसी को भिन्न नहीं करोगे तब तब तद्वान (उस वाला) नहीं बन सकते। जब संविद् भगवती को अपने से अलग कर दिया, ज्ञान को जब अपने से अलग कर दिया तब ज्ञानी बने। यह अलग करना ही अपने ज्ञान को प्रतीत करना है। उस प्रतीति से ही अप्रतीति भी है। इसी को दूसरे दृष्टांत से भी समझ सकते हैं। काँच में अपना मुँह तब दीखता है जब धड़ पर लगे मुँह को काँच में घुसा देते हो। काँच छह हाथ दूर है। काँच के सामने मुख न करो तो दिखाई नहीं देता। कहो कि अपने से इतर क्यों करें ? अलग किये बिना हमें पता कैसे लगे कि हम कितने सुन्दर हैं ! महिलायें और पुरुष दोनों ही, कोई ज़्यादा देर और कोई कम देर, सज-धज कर अंत में देखना चाहते हैं कि वे कितने सुन्दर हैं। लेकिन देखने के लिये जब तक मुँह को इतर न करो, तब तक नहीं देख सकते। इसी प्रकार संविद् भगवती अपने सौन्दर्य को तब देखे जब इतर करे। लेकिन जब इतर किया तब थोड़ी देर के लिये मानों भूल गई। जिस समय अपना मुख काँच में देख रहे हो तो ऐसा नहीं कि उस समय सिर कट कर काँच में गिर गया हो ! परमार्थतः तो वह इधर धड़ पर ही है। इसी प्रकार संसार-प्रतीति काल में भी समग्र विश्व आत्मा में ही है। ऐसा नहीं कि प्रतीति काल में आत्मा में नहीं हो। भगवान् शंकर उपनिषद्भाष्य में लिखते हैं कि 'इदंबुद्धिकालेऽपि सर्वं ब्रह्म एव।' इदं-रूप से जब दीख रहा है, तब भी सब ब्रह्म ही है।

पुराण में इसे एक कथा के द्वारा बताया। देवर्षि नारद और देवर्षि पर्वत दोनों मित्र थे। रिश्ते में पर्वत नारद के मामा थे। मामा-भाँजे का परस्पर बहुत प्रेम था। एक बार दोनों ने निश्चय

किया कि संसार में घूमने चलें, लेकिन एक शर्त के साथ। 'चित्तवृत्तिस्तु वक्तव्या यादृशी यस्य जायते।' शर्त यह है कि अपने मन में जो इच्छा उत्पन्न हो, जो भी चित्तवृत्ति बने, वह एक दूसरे को बता देंगे। मन की बात छिपायेंगे नहीं। यह निश्चय कर दोनों चले, पृथ्वी पर घूमने लगे। सुन्दर वन, उपवन, नदियाँ, शैल देखे। घूमते-घूमते एक राजधानी में पहुँचे। राजा संजय वहाँ राज्य करता था। राजा ने बड़े प्रेम से कहा कि 'आप यहाँ पर कुछ दिन रहिये।' राजा की एक पुत्री दमयंती थी। उसे संगीत बड़ा पसन्द था। नारद जी भी संगीत के बड़े जानकार थे। दमयंती ने उनसे कहा कि 'संगीत सुनाइये।' नारद जी ने सुन्दर सामगान सुनाया। धीरे-धीरे दमयंती के मन में आया कि 'मैं इनके साथ विवाह करूँ।' नारद के मन में भी हुआ कि 'यह संगीत की प्रेमी है अतः मैं भी इससे विवाह करूँ।' लेकिन ज़रा शर्म आ रही थी। पर्वत से नहीं बताते थे क्यों कि वे उनके मामा थे और देवर्षि भी थे। नारद डरते थे कि कहीं डाँट न दें। पर्वत महर्षि उनके बर्ताव को देखकर मन में सोचने लगे कि कुछ गड़बड़ मालूम पड़ती है। एक दिन पूछ लिया 'नारद ! मुझे ऐसा लगता है कि दमयंती और तुम आपस में विवाह करने की सोच रहे हो।' पहले तो नारद ने थोड़ी टाल-मटोल की, लेकिन पर्वत महर्षि उनके कहने के ढंग से समझ गये कि उनका अनुमान ठीक है। कहने लगे, 'नारद ! शपथ को याद करो 'चित्तवृत्तिस्तु वक्तव्या यादृशी यस्य जायते।' तब नारद ने सच बताया कि बात कुछ ऐसी ही है। पर्वत को बड़ा गुस्सा आया कि इतने दिन मुझ से छिपाया। यह कोई आदमियत नहीं कि कोई शर्त करे और फिर उससे बदले, अतः शाप दे दिया।

'तेरा कोई मुँह नहीं। जा तेरा मुँह बंदर का हो जाय।' उनके शाप से नारद का मुख बंदर जैसा हो गया। नारद जी शर्म के मारे दूसरे ही दिन वहाँ से चले गये। सब ने राजा को खबर दी कि 'नारद का मुँह बंदर का हो गया, इसलिये चले गये।' राजा ने भी सोचा कि ईश्वर की लीला है। पर्वत महर्षि भी वहाँ से अकेले ही यात्रा को चले गये।

राजा संजय ने विचार किया कि लड़की बड़ी हो गई, इसका ब्याह कर दें। लड़की को पता चला तो उसने अपनी सखियों से कहा कि 'मैं नारद से ही ब्याह करूँगी और किसी से नहीं करूँगी।' यह बात सुनकर राजा को धक्का लगा। राजा ने रानी कैकेयी को बुलाया और कहा कि 'लड़की की बुद्धि मारी गई है। हम राजा और वह भीख माँगने वाला ब्राह्मण ! यह कोमल शरीर वाली और वह तपस्वी कठोर शरीर वाला। इतना ही नहीं, वह बंदर के मुख वाला है। उसके साथ कैसे ब्याह हो सकता है ! लड़की का तो दिमाग खराब हो गया है।' फिर दोनों ने लड़की को भी समझाया कि 'एक या दो दिन की बात नहीं, जन्म भर बंदर के मुख वाले से कैसे गुजारेगी ?' लेकिन दमयंती ने दृढतापूर्वक कहा— 'एक नारद को छोड़कर मैं और किसी के साथ ब्याह नहीं करूँगी। बंदर मुख से क्या आता जाता है ! दाँत तो एक दिन गिरेंगे ही, मुँह पोपला हो जायेगा, आँखें, धँस ही जायेंगी, झुर्रियाँ पड़ ही जायेंगी। लेकिन नारद के पास तो नाद (संगीत) का समुद्र है। वे नादरूपी ब्रह्म के उपासक हैं। उनके नाद के समुद्र में मैं मग्न हुई हूँ। अतः उनमें मेरी देहादि की दृष्टि नहीं है। उस नादसमुद्र की विशेषता है कि उसमें मगर नहीं होते। दूसरे समुद्रों में मगर

होते हैं। संसार समुद्र में काम, क्रोधादि भयंकर मगर हैं। इतना ही नहीं, यह नादसमुद्र रसात्मक है। बाकी समुद्रों में खारा जल भरा रहता है, पर नादरूपी सिंधु में आनंद भरा है। 'रसो वै सः।' संसार समुद्र नीरस है, और उसमें बड़े-बड़े मगर भी हैं। संसार के पदार्थों में रस कुछ नहीं है। संसार के समुद्र में क्षार होता है। नादसमुद्र में कोई नमकीनता नहीं है। सारे सुख वहाँ भरे हैं। इसलिये मैं तो उसी नादसमुद्र वाले नारद के साथ विवाह करूँगी।' माँ समझ गई कि नहीं मानेगी। पिता ने कहा कि 'ज़िद है तो नारद के साथ ही विवाह कर दो। जहाँ लड़की को सुख मिले वहीं विवाह कर दो।'

राजा नारद के पास गये। नारद मारे शर्म के भागने लगे। राजा ने पुकार कर कहा किं 'तेरे बंदरमुख बन जाने से भी कोई फर्क नहीं पड़ा है। दमयंती तुम्हें ही वरती है।' नारद आ गये। दमयंती का नारद के साथ विवाह हो गया। दमयंती के प्रेम की निर्मलता से मुग्ध नारद उसे संगीत सुनाते रहे। दमयंती का उन पर बड़ा प्रेम हो गया था, इसीलिये बंदरमुख हो जाने पर भी विवाह किया। एक बार पर्वत महर्षि उधर से निकले। देखकर सोचा कि 'बेचारी लड़की को मैंने बेकार ही दुख दिया, अपराध तो नारद ने किया है।' तब नारद से कहा 'मैंने गुस्से में आकर शाप दे दिया था, लेकिन अब मैं अपने पुण्य-बल से तुझे सुन्दर मुख वाला बना देता हूँ।' नारद सुमुख बन गये। राजा व रानी को खबर भेजी। वे आये तो बड़े खुश हो सारी व्यवस्था कर लौट गये। इधर नारद का पत्नी पर प्रेम अत्यधिक था अतः सदा उसके साथ ही रहते थे। स्वयं नारद कहते हैं—'गच्छन् हास्यविनोदेन स्त्रीभावं

गमितोऽचिरात् ।' हँसी, खेल आदि सब उसके साथ करते थे अतः नारद के अन्दर स्त्रीभाव आ गया ! ऐसा होता ही है। यह कथा तो पुरानी है। सौ साल पहले की एक सच्ची घटना है। लखनऊ के नवाब वाज़िद अली शाह हमेशा औरतों से घिरे रहते थे। एक बार बगीचे में बैठे हुए थे, जहाँ तीन दरवाज़ों तक कोई आदमी नहीं था। वहाँ केवल औरतें और नपुंसक ही थे। वहीं एक साँप निकल आया। नवाब ने बड़े ज़ोर से आवाज़ लगाई कि 'किसी मर्द को बुलाओ।' तभी किसी औरत ने कहा—'नवाब साहब आप भी मर्द हैं।' कहने लगे, 'हाय दैया, मैं तो भूल ही गया था।' नारद का भी यही हाल हुआ।

नारद के मन में भी स्त्रीभाव दृढ हुआ। वे उसी भाव से मरे तो अगले जन्म में उसी के अनुकूल नारी का शरीर मिला। वहाँ जाकर तालध्वज राजा से विवाह हो गया। राजा भी उनसे बड़ा प्रेम करता था। प्राणों से भी ज्यादा पत्नी से प्रेम करता था। राजा उसके साथ बड़े प्रसन्न रहते थे। नारद स्वयं कहते हैं कि स्त्रीभाव को प्राप्त हो उनका क्या हाल हुआ। 'विस्मृतं ब्रह्मविज्ञानं ब्रह्मज्ञानं च शाश्वतम् ।' 'मैं ब्रह्मानुभव को भी भूल गया, तथा पढ़ा वेद भी भूल गया। वेद भी याद रहता तो ब्रह्म की याद आ जाती। वहाँ कामना में आसक्त होकर मेरा यह हाल हुआ। मेरे वहाँ बारह बेटे और आठ बेटियाँ पैदा हो गईं। फिर एक दिन किसी राजा ने चढ़ाई की। भयंकर युद्ध हुआ। उसमें मेरे सारे लड़के मारे गये। घर वाला भी मारा गया। मैं दुःखी हो कर रो रही थी।' नारद आख़िर भगवान् के भक्त थे। भगवान् ने विचार किया कि इसने काफी कर्मफल भोग लिया। भगवान् एक ब्राह्मण का रूप लेकर

आये औंर बोले कि 'रोने से क्या होगा ? पति और लड़कों का क्रियाकर्म करो।' भगवान् ने ब्राह्मण रूप से ही सौभाग्य सुन्दरी बने नारद को समझाया—'का त्वं, कस्याः सुताः, केऽमी चिन्तयात्मगतिं परां' 'सोच तो सही कि तू कौन है, ये बेटे किसके हैं, इनका क्या रूप है ? अरे ! तू आत्मगति की तो चिंता कर कि तू कौन है।' तब उसे कुछ होश आया। किसी के घर मृत्यु हो जाती है और दूसरे लोग आकर समझाते हैं तो कुछ होश आता ही है।

जब होश आया तब भगवान् ने कहा। 'किसी पुण्य तीर्थ में स्नान कर, सब ठीक हो जायेगा।' उसे वहाँ से लेकर गये, स्नान करवाया। इससे अंतःकरण और शुद्ध हो गया। जब अंतःकरण शुद्ध हुआ तब कहा 'तेरा अन्य सहारा नहीं रहा। मैं तुझे उपदेश सुनाता हूँ और उसके अनुकूल तू अपना जीवन व्यतीत कर।' सौभाग्य सुन्दरी को एकांत में ले गये और उपदेश दिया तब नारद को याद आ गया कि 'मैं कौन हूँ।' नारद भगवान् वेदव्यास से कहते हैं कि मेरा यह हाल हुआ—

'ज्ञानिनं मां जनो वेत्ति भ्रान्तोऽहं सर्वलोकवत्।

संसारेस्मिन् विना मोहं कोऽपि नास्ति शरीरवान्।'

साधारण लोग मुझे ज्ञानी समझते हैं। पर ज्ञानी बन कर सब लोगों की तरह मेरा भी यह हाल हुआ। इस संसार में जो भी शरीर वाल है, देहाभिमानी है, वह बिना मोह या अविवेक के नहीं है।

यह कथा वस्तुतः प्रत्येक जीव की है। 'नारं ज्ञानं ददाति इति नारदः' जो ज्ञान दे उसे नारद कहते हैं। नार अर्थात् ज्ञान। इसीलिये

भगवान् विष्णु नारायण हैं। नारे अयनं यस्य अर्थात् ज्ञान की तरफ गति है जिनकी वे नारायण हैं। जैसे सूर्य उत्तर की तरफ गति करे तो उत्तरायण और दक्षिण की तरफ जाये तो दक्षिणायन। जिनकी ज्ञान की तरफ गति है, वे नारायण हैं। अतः नारद अर्थात् ज्ञान देने वाला।

प्रत्येक जीव घट को अपना ज्ञान देकर घटज्ञानी बनता है, अतः प्रतिजीव ही नारद है। उस नारद ने अपने मामा पर्वत के साथ संसार में भ्रमण का निश्चय किया। पर्व नाम जोड़ का है। रीढ़ की हड्डियों में जोड़ हैं, इसीलिये उसे पवर्त कहते हैं। इसी के अन्दर कुलकुण्डलिनी रहती है। इसके साथ ही हम जगत् में भ्रमण करेंगे यह निश्चय किया था। कुछ समय तो इसी प्रकार भ्रमण किया। अन्त में राजपुत्री अर्थात् अविद्या के साथ सम्बन्ध करने की इच्छा से मोह आ गया। यही जीवका अविद्या में प्रवेश है। जो दूसरे को अपने अन्दर रख ले वह दमयंती है। नारद ने पर्वत को छोड़ा और दमयंती को ग्रहण किया इसीलिये वानर मुख वाला बना। जैसे बन्दर चंचल होता है ऐसे सब लोग हैं। यद्यपि संसार के सब पदार्थ नष्ट हो जायें तो भी हममें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है, ऐसे हम नित्य हैं; लेकिन वे ही हम अविद्या के कार्य मन की क्षणिक वृत्ति के साथ कामी, क्रोधी और न जाने क्या-क्या बनते हुये स्वयं भी चंचल बने हुये हैं। हैं नर, बन गये वानर। 'न रमते विषयेषु यः स नरः।' जो विषयों में रमण नहीं करता है वह नर है। जो विषयों में रमण न करते हुए भी अपने को करता हुआ समझता है वह वानर है। 'वा' मायने अथवा। अर्थात् क्या हम नर हैं ?

इस वानरभाव को प्राप्त करके, निरंतर इस अविद्या व इसके कार्यों की तरफ दृष्टि करते-करते हमने अपने को अज्ञानी मान लिया, नारीभाव को प्राप्त किया। कहो कि 'तू तो ज्ञानस्वरूप भगवान् सच्चिदानन्द है।' तो कहता है कि 'वह भगवान् सच्चिदानन्द विष्णु या भगवान् कृष्ण तो कोई अन्य होंगे। मैं तो गरीब अज्ञानी जीव हूँ, यह तो बहुत ऊँची बात है।' यही भाव सर्वथा नारीभाव है। था पति, बन गया पत्नी। तालध्वज से विवाह किया। संसार में पराशक्ति कौन है ? श्रीकृष्ण कहते हैं 'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्' जीव ही पराशक्ति है जिसने सारा जगत् धारण किया है। यह सारा संसार जीव के लिये है। यह बेचारा ऐसी नारी बना कि कहता है कि हम अपने बच्चों के लिये, बीवी के लिये, अपने व्यापार के लिये हैं ! भगवान् कहते हैं 'हे जीव ! सारा संसार तेरे लिये है।' लेकिन यह कहता है कि हम दूसरे के लिये हैं ! तालध्वज से विवाह किया। बारह लड़के और आठ लड़कियाँ पैदा कीं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये बारह लड़के हैं। आठ लड़कियाँ हैं—पंचमहाभूत, अविद्या, काम और कर्म। बारह लड़के इसलिये हैं कि ये बारह भोक्तृ-जगत् हैं। आठ कन्याएँ भोक्तृ-जगत् नहीं हैं। किसी न किसी दिन इन सबसे उसे दुःख की प्राप्ति होती है। तब पुनः परमात्मरूप गुरु आकर उपदेश करते हैं कि 'का त्वं' तू कौन है? कहाँ फँस गया ? ये कौन हैं जिन्हें तूने अपने बेटे-बेटियाँ मान रखा है ? अपनी आत्मगति, अपने स्वरूप का विचार कर। जब यह उपदेश सुनता है तब कुछ स्थिर होता है। फिर शुभ कर्म रूपी जल में स्नान करवाया। अप् जल है जो कर्म का प्रतीक है। शुभ

कर्मों से बुद्धि ठीक हुई। तब बार-बार तप कराकर आत्मज्ञान का उपदेश किया। अंत में अपने स्वरूप को जानकर सचमुच नारद-भाव को प्राप्त हुआ।

है तो संविद् ही एकमात्र पराशक्ति, दूसरी नहीं है तथापि जैसे नारद स्त्री के साथ रहते-रहते स्त्री बने इसी प्रकार हम सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के कार्य के साथ रहते-रहते तद्रूप हो गये हैं। पर ऐसी प्रतीति ही हो रही है, वास्तव में तद्रूप बने नहीं हैं। अतः अज्ञान भी वस्तुतः ज्ञानरूप ही है। प्रतीत अज्ञानरूप से होता है, वस्तुतः अज्ञान बनता नहीं है। जिस पराशक्ति की पूजा हम करते हैं वस्तुतः वह ज्ञानमयी, सन्मयी, आनन्दमयी, अनन्तमयी है। पूज्यपूजकभाव में वह दृश्यमयी, मूर्त्तिरूप से जडमयी व सान्तमयी या संहारकरूप से दुःखमयी भी प्रतीत हो सकती है पर वस्तुतः वैसी नहीं है। है तो वह केवल संविद् ही। संविद् ही अज्ञान से त्रिगुणात्मिका प्रतीत होने पर सांख्यों की प्रकृति हो जाती है। पर वेदान्ती उसकी वास्तविकता को जानकर ही उसकी उपासना करता है।

ॐ

प्रवचन-२

सूत संहिता के पंचम अध्याय में बताया कि 'संविद् एव परा शक्तिः।' संविद् ही पराशक्ति है। उस संवित् की पूजा के प्रकार को जानने के लिये ऋषि प्रश्न करते हैं कि

'भगवन् सर्वशास्त्रार्थ-परिज्ञानवतां वर।

ब्रूहि पूजाविधिं शक्तेः परायाः संग्रहेण तु।।'

यहाँ आचार्य के लिये दो सम्बोधन हैं। प्रथम सम्बोधन है भगवन्। भग शब्द का अर्थ छह पदार्थों का संग्रह है।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।

ज्ञानं वैराग्यम् इत्येषां षण्णां भग इतीरणा।।'

जिसमें ये छह हों, वह भगवान् होता है। इन छह में परस्पर विरोध है। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये ही भग है। जहाँ ऐश्वर्य होता है वहाँ वैराग्य नहीं होता। ऐश्वर्य व वैराग्य का विरोध है। जहाँ धर्म होता है वहाँ लक्ष्मी नहीं होती, यह धर्म और श्री का विरोध है। इसी प्रकार यश और ज्ञान का भी विरोध है। ऐश्वर्य का मतलब सामर्थ्य होता है। दूसरे से ऊपर शासन करने की सामर्थ्य होना ही ऐश्वर्य है। ईश का अर्थ ही शासन करने वाला होता है। जहाँ शासन होगा वहाँ वैराग्य नहीं रहेगा। चुराई चीज़ के प्रति राग न होने से वैराग्यवान् कहता है कि 'चोर ने चोरी की तो क्या हर्ज़ हुआ, आखिर मृत्युकाल में यमराज सब चुरा ही लेगा !' ऐसा व्यक्ति शासन नहीं कर सकेगा।

गाँधी जी के शिष्य जिस समय से शासक बने तभी से शासन में कमी आई। वे कहते थे 'उसने चोरी की भी तो बिना दण्ड के जाने दो।' अपराधी को छोड़ने से शासन नहीं होता। बंगाल में कोई किसी को मार डालता था तो उसे दण्ड देने के बजाय कहते थे कि 'उसे काम नहीं मिला, इसलिये उसने मार डाला। उस हत्यारे को नौकरी दिला दो, जेल में डालने से क्या फ़ायदा?' इस प्रकार शासन नहीं हो सकता। ऐश्वर्य और वैराग्य का आपस में विरोध होता है।

इसी प्रकार धर्म और लक्ष्मी का भी विरोध है। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में बताया है कि लक्ष्मी कैसे मिलती है। यह बात किसी साम्यवाद की किताब में से नहीं बतलाई जा रही है ! महाभारत का वाक्य है :

'नाछित्वा परमर्माणि, नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।

नाहत्वा मत्स्यघातीव भवन्ति महतीश्रियः।।'

दूसरे के मर्मस्थलों का छेदन किये बिना धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। मान लो एक आदमी लड़की के ब्याह के लिये पाँच सौ रुपये ले गया। अब वह ब्याज भी पूरा नहीं देता। लोग जब हम से कहते हैं कि 'अमुक आदमी उधार ले गया और अब वापिस नहीं दे रहा है।' तो हमें हँसी आती है। हम पूछते हैं कि जब वह उधार ले गया था तब वह कितने साल का था ? जवाब में वे कहते हैं कि चालीस साल का था। हम कहते हैं कि जब चालीस साल में वह पाँच सौ रुपये नहीं बचा सका तो अगले चालीस साल में भी नहीं बचा सकेगा। फिर पाँच साल बाद कहाँ से वापिस

लायेगा ? वह तो उस समय ज़रूरतमंद था, ले गया। अब यदि वापिस चाहोगे तो मर्म-छेदन करना पड़ेगा। कर्ज़दार के घर और गहने बिकवाने पड़ेंगे। उसके पास नहीं है अतः छोड़ दोगे तो लक्ष्मीवान् नहीं हो सकोगे। दूसरा दृष्टान्त लें। एक आदमी ठण्ड से काँप रहा है। उसके पास कपड़ा नहीं है। तुम उससे कहते हो कि 'पैसा दे दो, तब कम्बल दे दूँ।' अगर उसके पास पैसा होता तो वह ठिठुरता हुआ क्यों आता ! यदि लक्ष्मी चाहते हो तो कहना पड़ेगा कि 'बिना पैसे के कम्बल नहीं दूँगा।' और यदि उसके मर्म का छेदन न हो अतः कम्बल बिना पैसे के दे दोगे तो लक्ष्मी नहीं रह पायेगी।

दूसरी बात कही 'नाकृत्वा कर्म दुष्करं।' जिन कर्मों का शास्त्र में निषेध किया है उनं दुष्कर्मों को किये बिना भी धन संचय नहीं होता। यह आज की ही बात नहीं है। आज भी कर की चोरी न करो तो बचेगा क्या ? कर की चोरी झूठ बोले बिना संभव नहीं। 'सत्यं वद' पर डटे रहने से धन नहीं मिलेगा। इसलिये निर्णय करना पड़ेगा कि क्या चाहिये ? नहीं करने लायक कर्म किये बिना धन नहीं मिलेगा। पुनः कहा 'नाहत्वा मत्स्यघातीव' मछलीमार की तरह अनेकों को मारकर अपना काम बनाने वाला बने बिना भी कोई धनी नहीं बन सकता है। एक कारखाने में पाँच सौ आदमी काम करते हैं। पाँच हज़ार का फायदा उसमें किस तरह होता है ? पाँच सौ आदमियों ने मिलकर पाँच हज़ार कमाये अर्थात् पाँच सौ आदमियों ने जितना पाया उससे दस रुपये के मूल्य का प्रतिव्यक्ति ने अधिक काम किया, पर उसके बदले का पैसा नहीं पाया। तुम्हारे फायदे का मतलब है कि उन लोगों ने जितने का

काम किया, उससे कुछ कम पैसा तुमने उन्हें दिया। अगर जितना उसने काम किया उतना ही दे देते तो तुम्हारे पास फायदा कहाँ से बचता ? जो जितने बड़े जाल में जितनी ज़्यादा मछलियों को फँसायेगा, वह उतना बड़ा मछुआ है। इसी प्रकार जो जितने ज़्यादा मज़दूरों को काम कराके कंम पैसा देने में फँसा सकेगा वह उतना ही बड़ा उद्योगपति होगा। आज भारत में तो सबसे बड़ा मछली-मार राजा—सांसद, विधायक, ही हैं। दूसरे बेचारे उद्योगपति तो दस-बीस हज़ार को ही ठगते हैं, पर राजा तो छप्पन करोड़ को ठगते हैं ! चुनावों में खर्च के लिये इतना रुपया कहाँ से आता है ? कोई राजा कमाता है क्या ? इतने ठाठ-बाट से रहने के लिये पैसे कहाँ से आते हैं? इन मछुओं ने सारी प्रजा रूपी मछलियों को फँसा रखा है। किसीको आयकर के नाम से तो किसीको बिक्री कर के नाम से ठगते हैं। आबकारी, आदि न जाने कितने करों से भी पेट न भरा तो महाब्राह्मणों की तरह मृत्युकर भी लेने लगे! जो जितना बड़ा जाल फैलायेगा, वह उतनी ही मछलियों को पकड़ सकेगा। धर्म और लक्ष्मी का विरोध ही रहता है।

यश और ज्ञान का भी विरोध है। जितना-जितना मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, उतनी-उतनी उसकी संसार के प्रति इष्टबुद्धि हटती है। यश उसी का होता है जो संसार में इष्टबुद्धि करे। यश का मतलब है दूसरों की प्रशंसा, और वह तब मिलती है जब जिसको दूसरा ठीक समझे, वह किया जाय। चूँकि संसार में अधिकतर लोग मूर्ख हैं, इसलिये मूर्खता करने से ही वे लोग प्रसन्न होंगे एवं प्रशंसा करेंगे। गर्मी पड़ रही है। गर्मी में शरीर को हवा लगना अच्छा है। मूर्ख कहता है कि उस समय भी शरीर में वैसे ही वस्त्र

पहनो जैसे सर्दी में। बुद्धिमान् कहता है कि यह कैसी अजीब बेवकूफी है। जो कपड़ा तो ठण्ड से बचने के लिये था, ठण्ड नहीं है तो उसे क्यों पहना जाय ? लेकिन मूर्ख कहेगा कि पहनना ज़रूरी है। इसी मूर्खता का नाम उसने विन्यास (fashion, style) रख छोड़ा है। मूर्खों के समाज में मूर्ख बनने पर ही यश की प्राप्ति होगी। यदि मूर्खता छोड़ी तो सब मूर्ख मिलकर अपयश ही करेंगे। उनकी दृष्टि में ऐसा आदमी बेकार का है।

एक कहानी है। एक हंस जेठ मास की धूप में दक्षिण से उड़कर मानसरोवर जा रहा था। रास्ते में अत्यंत गर्मी से व्यथित होने के कारण एक घोर वन में सघन छायादार वृक्ष पर जा बैठा और कहने लगा कि 'बड़ी गर्मी है। ज्येष्ठ का सूर्य इस वर्ष बड़े ही ज़ोर से तप रहा है।' वृक्ष के दूसरे पक्षी बोल पड़े कि 'अरे ! तू झूठा यहाँ कहाँ से आ गया ?' वे सब उल्लू थे। कहने लगे, 'गर्मी तो है, पर यह सूर्य व धूप कहाँ से आ गई ? इन्हें किसने देखा है ?' हंस ने कहा 'क्या तुम्हें नहीं दिखता कि सूर्य कितना चमक रहा है?' उल्लू बोले, 'हमें बेवकूफ बनाता है। सूर्य कहाँ है ? चारों तरफ अँधेरा ही है।' हंस ने समझाया कि गर्मी लगती है तो उस का कोई कारण तो होगा। वे बोले, 'बिना कारण के भी गर्मी हुआ करती है। गर्मी का स्वभाव है कि बढ़ जाया करती है, और फिर अपने आप कम हो जाती है। इसलिये तू हमें बेवकूफ न बना सच्ची बात कहा कर।' हंस ने कहा है कि 'सूर्य तो है, तुम्हारी आँख खराब होगी। अतः नहीं दिखता होगा। दूसरों से पूछ देखो।' दूसरों से पूछा तो उन्होंने भी कहा कि सूर्य नाम की कोई चीज़ नहीं है। क्योंकि वहाँ बाकी सब उल्लू थे। किसी ने कहा कि पैंतीस

साल हो गये, किसी ने कहा चालीस साल हो गये, पर चारों तरफ घूम आने पर भी सूर्य कहीं नहीं मिला है। इस प्रकार उन्होंने एक राय से निर्णय किया कि सूर्य नाम की चीज़ नहीं है। सभी ने उस हंस से कहा कि 'तुम भी मान लो। नहीं तो झूठ बोलने वाले को हम सब मिलकर पीटेंगे।' अब बिचारा हंस वहाँ से धूप में ही उड़ चला। अतः मूर्खों में विद्वान् को पिटना पड़ता है अथवा एकांत में भाग कर जान बचानी पड़ती है।

विवेकी हंस है। जो नीर-क्षीर का विवेक करे, सत्य-असत्य का विवेक करे, उसे हंस कहते हैं। जैसे वहाँ चिलचिलाती धूप में उड़ते-उड़ते हंस ने कहीं आश्रय ग्रहण किया; इसी प्रकार संसार दावाग्नि से तप्त व्यक्ति जब कहता है कि संसार में अज्ञानजन्य शोक मोह राग द्वेष की भयंकर अग्नि इस ज्येष्ठ रूपी अहंकार की स्थिति में पड़ रही है तब संसार के बहुमत से सिद्ध किया जाता है कि शोक आदि तो हैं पर उनका कारण अज्ञान नहीं है। बिना ही कारण के रागद्वेषादि स्वभाव से ही हो जाते हैं। तब अकेला ही उन सब को छोड़कर समाधि के अभ्यास के लिये एकान्त शांत स्थान की ओर उड़ जाता है।

संवित् का पता कहाँ लगता है ? शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि जहाँ एकांत में योगियों का समुदाय है, वहीं संवित् का साक्षात्कार सम्भव है। 'एकान्ते योगिवृन्दैः' में एकांत के साथ ही योगिवृन्द भी कहा है। शैव धर्म में एकांत वह है जहाँ एक विचार के पुरुषों को छोड़कर दूसरे विचार के पुरुष न होवें। एक ही विचार के पुरुष जहाँ हों, वही सच्चा एकांत है, न कि जहाँ अपने सिवाय दूसरा कोई हो ही नहीं। क्योंकि वे लोग आपस में एक दूसरे को

उद्देश्य की ओर आगे बढ़ाते हैं। 'अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' कह कर पंचदशी में भी यही कहा है। ऐसे लोग अगर मन से चिंतन करेंगे, तो शिव तत्त्व का ही चिंतन करेंगे। इसीलिये उन पुरुषों का मानसिक स्पंदन एक दूसरे को मदद करने वाला बनेगा। दिल्ली में रहोगे तो संन्यास आश्रम से बाहर निकलते ही चलचित्र के ज्ञापन पत्र (poster) दिखाई देंगे। अब तो चलध्वनि (transistor) के सहारे आश्रम में भी सड़क में घूमने वालों की कृपा से चलचित्र का संगीत पहुँचने लग गया है। चारों तरफ के वातावरण में जो मानस स्पंद चिंतनों से बनेंगे वे अपने मन पर भी हावी होंगे ही। यह अनुभव प्रायः अनेक बार होता होगा। दिल्ली से किसी एकांत, सुन्दर तीर्थस्थल में जाने पर स्वभावतः वृत्तियों का विक्षेप चला जाता है। एक बार हम किसी एकांत स्थल में रह रहे थे। हमारे साथ हमारे एक बड़े अच्छे मित्र भी थे। हम दो ही वहाँ थे। वहाँ हमने समाचार पत्र बाँचना बंद कर रखा था। इसी बीच दिल्ली में कई काण्ड हो गये। एक महीने के बाद निवास काल के अंत में हमारे मित्र कहते थे कि 'हम इस समय तक दुनिया से बाहर रहे हैं।' हमने कहा कि दोनों समय बढ़िया दाल भात खाते हैं, दूध खूब पीते हैं, आनंद से वेदमंत्रों का स्वाध्याय एवं शिव-चिंतन करते हैं। फिर दुनिया से बाहिर कैसे हो गये ? वे कहने लगे कि वापिस दिल्ली पहुँचते ही महीने भर के अखबार इकट्ठे देखने पड़ेंगे कि इस बीच आखिर हुआ क्या? वैसे इतना तो निश्चित है कि हम एक महीने तक बड़े आनंद में थे। यह वातावरण का प्रभाव है। दिल्ली में रहेंगे तो यही चिंता करते रहेंगे कि कहाँ क्या-क्या हो रहा है ?

एक विचारधारा के लोग होंगे तो आपस में बातचीत में भी तत्त्व का ही कथन चलेगा। यह स्वाभाविक है कि मन में जैसा चिंतन चलता है, वैसा ही मुँह से वचन भी निकलता है। जो पुरुष जिस क्षेत्र की रुचि का होगा, थोड़ी देर तक अन्य क्षेत्र की वार्ता के बाद फिर उसी क्षेत्र की बात करने लगेगा। जो खाओगे, मुँह से उसकी ही गंध निकलेगी। लहसुन, प्याज आदि खाओगे तो उसकी ही गंध मुँह से निकलेगी और कस्तूरी इलायची खाओगे तो वैसी ही गंध निकलेगी। इसी प्रकार जो निरंतर अशिव-विषय का चिंतन करेगा, उसकी बातचीत में अशिव विषय की वार्ता ही प्रधान रूप से निकलेगी।

जैसा भी साधक हो, और वह जितना भी एक ही विषय का चिंतन करे, यह स्वाभाविक है कि बीच-बीच में मन इधर उधर चला जाये, चित्त स्वभाव से ही चंचल है और यह प्रभु की असीम दया है कि उसने चित्त को चंचल बनाया। सामान्य लोग कहते हैं कि यदि चित्त चंचल न होता तो बड़ा अच्छा हो जाता, पर हम कहते हैं कि चित्त चंचल न होता तो बड़ी कठिनाई हो जाती, एवं मोक्ष तो असंभव ही हो जाता। अनादि काल से आज तक चित्त अनात्मविषयों में लगा। अब अगर चित्त चंचल न होता तो विषयों से उसे निकालना असंभव हो जाता। अनंत काल तक अशिव से धीरे-धीरे निकालने का प्रयत्न करते, तब कहीं वहाँ से अनंत काल से फँसा हुआ चित्त निकलता। लेकिन शिवदया से चित्त चंचल है। इसीलिये चाहे अरबों सालों से अशिव विषयों में लगा हो, स्वाभाविक चंचलता के कारण झट ही वहाँ से हटकर परमशिव में लग जाता है। परमात्मा की सृष्टि में कहीं दोष नहीं है। सभी

कुछ हमारे कल्याण के लिये ही है। इसी चंचलता के कारण शिव के चिंतन में लगा हुआ मन कभी-कभी पुनः अशिव विषयों की ओर भी चला जायेगा। जब एक साधक का चित्त अशिव में गया तब दूसरे ने उसे पुनः शिव बोध से जगा कर उसका प्रबोधन किया, एवं जब दूसरे का चित्त गया तब प्रथम ने उसका प्रबोधन किया।

पुराणों की कथाओं में बार-बार यही देखने को मिलता है। कहीं नारद वक्ता हैं तो सनत्कुमार श्रोता, कहीं सनत्कुमार वक्ता हैं तो नारद श्रोता। आजकल के ऐतिहासिक माथा-पच्ची करते हैं कि कौन पहले और कौन पीछे हुआ। व्याससम्प्रदाय वेदांती था। इसलिये यह पहले-पीछे का विचार उनकी समझ में व्यर्थ रहता था। वेदांती सिद्धान्त कहता है कि श्रोता वक्ता दोनों साथ-साथ पैदा होते हैं। वेदांत की विचारधारा बड़ी विचित्र है। बाप किस दिन पैदा हुआ, उसको जानने के लिये वह पहले बेटे के जन्म की तिथि को पूछता है। बेटा सन् १९२२ में पैदा हुआ था तो वेदांत सिद्धान्त में उसी दिन बाप भी पैदा हुआ था। लोगों को यह सुन कर चक्कर आता है। पर वस्तुस्थिति यही है कि जिस दिन तक बेटा पैदा नहीं हुआ था, बाप भी बाप नहीं बना था। पुत्र की उत्पत्ति होगी, तभी 'पिता' नाम होगा। यदि पुत्र उत्पन्न नहीं हो तो चाहे सत्तर साल का बुड्ढा होकर मरे, *पिता* नहीं बन सकता। इसलिये पुत्रोत्पत्ति के साथ ही पिता की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। एवमेव शिष्य की उत्पत्ति के साथ ही गुरु की उत्पत्ति है। कितना ही विद्वान् हो, बिना शिष्य के गुरु नहीं हो सकता। जब कोई शिष्य स्वीकारे कि वे हमारे गुरु हैं, तभी वह गुरु बनेगा। वक्ता भी तब वक्ता बनेगा जब कोई श्रोता बने। अगर कोई सुनने

वाला ही नहीं है तो कोई वक्ता भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार सीखना और सिखाना साथ ही साथ चलता है। लोग समझते हैं कि शिक्षक सिखा रहा है एवं शिष्य सीख रहा है। विचार-दृष्टि से देखें तो शिक्षक भी शिष्य से सीख रहा है। जैसे शिक्षक ने एक बात कही। दस की समझ में बात नहीं आई। यह आवश्यक नहीं है कि मुँह से कहना पड़े। श्रोता की आँख से भी बात श्रोता की समझ में बैठी नहीं यह बात शिक्षक की समझ में आ ही जाती है। अब शिक्षक ने भी शिष्यों से सीख लिया कि दिल्ली में अमुक शब्द कठिन है, अतः उसका पर्याय यहाँ प्रयोग करके बोले। इस प्रकार ये दोनों भाव युगपत् ही चलते हैं। नारद ने शिक्षा दी तो वे पहले हुए और सनत्कुमार ने शिक्षा दी तो वे पहले हुए आदि व्यर्थ बातों से वेदांती को कोई मतलब नहीं रहता है। शैव तो यही मानता है कि कभी नारद का मन अनात्मा में गया तो सनत्कुमार ने आत्मतत्त्व नारद को सुनाया, और सनत्कुमारका मन विषयों में गया तो नारद ने सुना दिया। यही 'अन्योन्यं तत्प्रबोधनं' है।

एक विचारधारा के लोग जहाँ एकत्रित होकर एक ही कर्म करते रहें, वही एकांत है। भाष्यकार कहते हैं कि संवित् का साक्षात्कार वहीं हो पायेगा जहाँ ऐसा एकांत होगा। कोठरी बंद करके बैठने से संवित् का साक्षात्कार नहीं होगा। जिनकी इन्द्रियाँ प्रशांत हो गई हैं वे ही योगी हैं। उनका ही साथ साधक को लाभप्रद हो सकता है। ऐन्द्रिय चांचल्य से आवृत व्यक्ति कभी भी संवित् का दर्शन करने में समर्थ नहीं हो सकता। इन्द्रियों की चंचलता मनुष्य को कभी स्थिर तत्त्व को नहीं देखने देगी। अस्थिर इन्द्रियों से स्थिर शिव का अनुभव असंभव है। भायंत्र (camera) से जब

चित्र लेते हैं तब दो काम करने पड़ते हैं। प्रथम तो जिसका चित्र ले रहे हैं उसे स्थिर रहना पड़ता है और द्वितीय, चित्र लेने वाले को भी स्थिर रहना पड़ता है। जिसका चित्र ले रहे हैं, वह यदि अस्थिर है तो भी चित्र ठीक नहीं आयेगा और जो चित्र ले रहा है वह अस्थिर है तो भी चित्र ठीक नहीं आयेगा। चित्र का विषय भी स्थिर हो और जिसके द्वारा चित्र का ग्रहण होता है वह भी स्थिर हो, तभी चित्र ठीक आयेगा। अथवा जहाँ दोनों में अस्थिरता हो तो वहाँ भी चित्र ठीक आ जायेगा। चल-भायंत्र (moving camera) में यही होता है। उसकी पट्टी (film) अपने आप बराबर चलती रहती है। वह उन पदार्थों का भी चित्र लेता है जो स्वयं चल रहे होते हैं। उसी के आधार पर तो कुसंग के अड्डे (चलचित्र) बनते हैं। वे चित्र इसी प्रकार लिये जाते हैं। वहाँ दोनों अस्थिर हैं। इसी प्रकार से अस्थिर नाम, रूप, कर्म को जानने के लिये अस्थिर मन, इन्द्रियाँ आदि हैं। जगत् के यावत् अस्थिर पदार्थों के ज्ञान के लिये अस्थिर इन्द्रियों की ज़रूरत है। पर यदि स्थिर पदार्थ संवित् को जानना है तो इन अस्थिर इन्द्रियों से काम नहीं चलेगा। उसके लिये स्थिर साधन ही चाहियें। गीता-भाष्य में भगवान् शंकर ने बताया है कि शास्त्र और आचार्य के उपदेश से संस्कृत हुआ स्थिर चित्त ही आत्मज्ञान का साधन बनेगा। नामरूपात्मक जगत् में आगे बढ़ना है तो हमें ये इन्द्रियाँ ही और अधिक तेज़ करनी पड़ेंगी। जैसे किसी कमरे में जाकर बैठो, तो सफल व्यापारी देख लेता है कि इसके यहाँ इस मार्के का पर्दा टंगा है। इसका मतलब है कि अगली बार जब यह हमारी दुकान पर आयेगा तो ऐसी ही चीज़ दूँगा। वहाँ जाकर जो चुपचाप नीची

नज़र किये बैठा रहे वह सफल व्यापारी नहीं। गये तो चाय पीने थे, लेकिन अपना काम भी कर आये। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थों में जो जितना चंचल होगा वह उतना ही सफल होगा। हिन्दी में कहावत है, 'उड़ती चिड़िया पहचानना।' लेकिन उसके द्वारा ब्रह्मानुसंधान होने वाला नहीं। वह उड़ती चिड़ियों को पहचान सकेगा, स्थिर को नहीं।

बाहर की इन्द्रियों की शांति के साथ कहा कि अन्दर वाली इन्द्रियाँ भी शांत होनी चाहिये। बहुत से लोग केवल बाहर से वृत्तियों का शमन करके बैठ जाते हैं। यह भारतवर्ष के तथाकथित धार्मिकों की समस्या है जो गीताकाल से लेकर आज तक चल रही है। भगवान् ने अर्जुन से कहा—'तेरे मन में तो जीत की इच्छा स्फुर रही है, नहीं तो यहाँ आता क्यों; लेकिन आने के बाद भाग रहा है। इसलिये तेरे अन्दर की इच्छा नहीं गई है। जब दूसरे निन्दा करेंगे, तब लड़ेगा। यदि अभी नहीं लड़ेगा तो तू पाखण्डी बन जायेगा।' जो बाहर से इन्द्रियों को वश में कर लेता है, आँखें बंद कर ले, हाथ-पैर सिकोड़ कर बैठ जाये, लेकिन मन से विषयों का स्मरण करता रहता है, भगवान् कहते हैं कि वह पाखण्डी है। यह भगवान् कृष्ण के समय का नहीं, उससे भी पुराना रोग है। रावण ने बड़ी तपस्या की और तप काल में इन्द्रिय-निरोध करके बैठा था। इसलिये कि 'ताकत आयेगी तो दूसरों की औरतों को भगाऊँगा, दूसरे का राज्य जीतूँगा।' अधिकतर धार्मिक भी जब कर्म का समय आता है तब वैराग्य की बात करते हैं और जब भोग भोगने का समय आता है तब तैयार हैं ! इसलिये वे मिथ्याचारी होते हैं। इसी प्रकार भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि

बाहर से इन्द्रियों को प्रशमित किया लेकिन अन्दर से विषयों की भूख-प्यास दहकती रही तो काम नहीं चलेगा। जिसने मन से पदार्थों की भूख-प्यास, अर्थात् पदार्थ की विषय-कामना को हटा दिया है वही योगी है।

यह कैसे करें ? दो तरह के साधक होते हैं—हठयोगी और राजयोगी। हठयोगी हठपूर्वक साधन करता है जिसे कहीं-कहीं बताया है कि हाथ से हाथ मसलकर, दाँत से दाँत पीस कर मन को जीतना हठयोगी का अभ्यास है। राजयोगी हठयोग नहीं करता। वेद का सिद्धान्त हठ का नहीं, राजयोग का है। इसीलिये वेद में काम्यकर्म को भी बताया। तुम्हारे मन में जो कामना है उसको पूर्ण करने के सारे साधन वेद में बताये कि धन, पुत्र, पत्नी आदि चाहिये तो क्या-क्या करें, जैसे सप्तशती में बताया 'पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्।' वेद कहता है कि जब तक मन में कामना है, तब तक काम्य कर्म करो, कोई बात नहीं। लेकिन काम्य कर्मों से तुम्हारा मन शुद्ध होगा। यह वेद का विचित्र सिद्धान्त है 'काम्येपि शुद्धिरस्ति एव।' भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं कि काम्य कर्मों से भी शुद्धि होती है। जब तक इच्छा है, उसे पूर्ण करने के लिये प्रयत्न करो, लेकिन शास्त्र-विरुद्ध कर्म मत करो। जब धीरे-धीरे कामना-पूर्ति का अनुभव करोगे तब पता चलेगा कि जितना सुख उसमें समझते थे, उतना नहीं है। केवल काम्य कर्म के भरोसे रहे तो जो शुद्धि मिलेगी वह भोगोपयोगी ही होगी लेकिन भोग की अतृप्तिप्रदता के प्रति जागरूक हो गये तो विवेक जग जायेगा, उससे अंतःकरण शुद्ध होगा। तब पदार्थों से स्वतः वैराग्य होगा। 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो

निर्वेदमायात्' सारे लोकों को चाहते हो तो उन्हें प्राप्त करो परन्तु साथ-साथ परीक्षा कर के देखो। उन्हें ठोक-बजाकर देखो। उनसे घबराने की ज़रूरत नहीं है। कर्मों के द्वारा प्राप्तव्य लोकों को प्राप्त कर के अनुभव करके देखो, परन्तु विवेक के साथ। जैसे-जैसे अनुभव करोगे, वैसे-वैसे निर्वेद की प्राप्ति होगी, परीक्षा करोगे तभी पता चलेगा। हम ग़लती यह करते हैं कि परीक्षा नहीं करते। आज बीस रुपये महीना मिलता है, कल दो सौ रुपये महीना मिलने लगे तो परीक्षक विचार करता है कि धन दस गुना बढ़ा तो सुख दसगुना बढ़ा या नहीं ? प्रत्येक व्यक्ति से मिलो तो पता चलता है कि आमदनी पहले से ज़्यादा बढ़ी है। गत बाईस वर्ष में आमदनी सब की बढ़ी है। पहले जो मज़दूर एक रुपये रोज़ नहीं कमाता था, आज उसे छः रुपये रोज़ मिलते हैं। उससे पूछो कि 'सुखी ज़्यादा हुआ ?' तो कहता है कि 'महान् दुःखी हूँ।' जो व्यापारी बोरे में सौदा करता था अर्थात् अनाज जिस भाव आया, उसी भाव बेचा, केवल बोरा बचा; वह आज अनाज में छह से आठ आने का फर्क कमाता है। उससे कहो 'सुखी हो ?' कहता है 'नहीं।' आदमनी बढ़ी सुख नहीं बढ़ा। उल्टा वह कहता है कि दुःख ही बढ़ा। फिर भी कहता है 'धन को बढ़ायेंगे तो सुख होगा।' इतने से दुःख मिला, आगे और बढ़ाने से दुःख ही बढ़ना है। लेकिन कोई परीक्षा करने को तैयार नहीं है। उससे कह दिया गया कि 'पदार्थ बढ़ाने से सुख होगा' तो उसी में लगा है। एक बार कानपुर से दिल्ली मोटर में आ रहे थे। रास्ते में मील के पत्थर लगे होते हैं। रास्ता चूक गये। उससे पहले मील के पत्थर पर दिल्ली-३५१ लिखा था। अगला पत्थर ३५२ का मिला। हमने कहा कि रास्ता

गड़बड़ लगता है। साथ के लोग कहने लगे, 'नहीं ठीक चल रहे हैं।' घण्टा-दो घण्टा आगे चले तो रास्ता बंद हो गया। वह गाँव का रास्ता था। पता लगाया तो लोगों ने कहा कि उलटे आ गये। इसी प्रकार तुमने धन की प्राप्ति के मार्ग पर पत्थर दुःख के लगे देखे, दिल्ली तो दूर होती जा रही है। फिर भी लोग कहते हैं कि आगे चलें तो सुख मिलेगा। परीक्षा नहीं करोगे तो सुख कैसे होगा? इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि केवल हठयोग इष्ट नहीं। वह साधन तो है, लेकिन वैदिक कहता है कि इसमें सुख नहीं। वह कहता है कि हठ से इंद्रिय-नियंत्रण करना सुख का रास्ता नहीं। उसकी अपेक्षा तो काम्यकर्मों से शास्त्रानुमत तरीके से भोग प्राप्त करो तो सुख हो जायेगा। किंतु वास्तविक सुख का मार्ग विवेकपूर्वक वैराग्य ही है।

इसलिये भगवान् भाष्यकार का सिद्धान्त है 'सानंदं ध्यानयोगात्' आनन्द के साथ ध्यान-योग करो। जैसे कौए की बीट को उठाने की किसी की इच्छा नहीं होती, यह उपदेश नहीं देना पड़ता कि 'बीट फालतू की चीज़ है, मत उठाओ।' हमें वह मिल न जाती तो अच्छा था—ऐसा मनन नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार जिसे संसार के सारे पदार्थों में लगता है कि ये सब व्यर्थ हैं, फल्गु प्रयोजन वाले हैं, उसको उनके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। बल्कि बिना माँगे बीट पड़ जाये तो कपड़ा धोते हो, कई बार तो स्नान की भी इच्छा होती है। इसी प्रकार जिसने राजयोग का अभ्यास कर लिया हो उसे किसी प्रारब्धवेग से संसार के पदार्थ प्राप्त हो गये तो सोचता है कि कब हटें। कब धोकर बाहर निकालें। अंतःकरण को तो धो लें। सोचता है कि स्नान

कर लें अर्थात् समाधि के अभ्यास से विषयों को हटायें। इसलिये जब वह संवित् में लगता है तब उसे आनंद मिलता है और प्रारब्ध–वेग से यदि विषय का संयोग हो भी गया तो धोने की इच्छा करता है। तभी चित्त के अन्दर उस अत्यंत सूक्ष्म संवित् का साक्षात्कार होता है।

ऐश्वर्यादि इन छह चीजों का विरोध है। पर ये सभी पूर्णतः जिसके अन्दर रहें, उसे भगवान् कहेंगे ! यह एकांत का रमण लोगों की दृष्टि में अयश है। इसीलिये भगवान् शंकर का पूजन करने में लोग डरते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि ज्ञान की है।

'श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचराः
चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटी परिकरः।'

संसार में जितनी अमंगल की चीज़ें समझी जाती हैं, वे सब उन्होंने बटोर रखी हैं। इसलिये उनका यश नहीं होता। भगवान् विष्णु का यश होता है जिन्होंने सोने के कुण्डल, हीरे के हार धारण किये हुए हैं। एक बार बंबई में थे तो किसी ने कहा कि 'यहाँ एक बहुत बड़े महात्मा आये हुए हैं ?' हमने पूछा कि उनमें क्या देखा तो कहा कि 'उनके साथ चार मोटरें हैं।' यह यश की दृष्टि है। चार मोटरें साथ हैं, इसका महात्मा से क्या संबंध ? कहने वाले ने यह विचार नहीं किया। अतः इन छः चीज़ों का जहाँ समन्वय हो, उसे भगवान् कहते हैं। जो इन छह चीजों को सर्वथा अपने में समन्वित करेंगे, वे ही वस्तुतः इस संवित् तत्त्व को समझने में समर्थ होंगे। 'भगवन्' शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया कि 'आप में छहों का समन्वय है, इसलिये इस संवित् की महिमा को हमें समझा सकते हैं।'

ॐ

प्रवचन-३

स्कंद पुराण की सूत संहित में पंचम अध्याय के आधार पर भगवती के स्वरूप का विचार कर रहे हैं। वह पराशक्ति क्या है? संवित् ही पराशक्ति है। भग शब्द के छह तात्पर्य बताये। उनमें आपस में किस प्रकार सामान्य दृष्टि से विरोध है, यह भी बताया। जीव में ये छह आपस में अत्यंत विरुद्ध होने के कारण एक साथ नहीं रह सकते। ये छह जिसमें इकट्ठे रहें, वह भगवान् है। इन छह धर्मों की विरुद्धता ही उनको भगवान् बनाती है। वेदों में जहाँ परब्रह्म परमात्मा का वर्णन किया वहाँ सर्वत्र विरोधाभास अलंकार का प्रयोग किया अर्थात् जहाँ विरोध की प्रतीति है लेकिन विरोध न हो। जैसे ईशावास्य उपनिषद् में उस परमात्म-तत्त्व को बताते हुए कहा है कि वह बिल्कुल चलता नहीं और बहुत ज़ोर से चलता है 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'। 'तद् एजति'—वह चलता है। 'तद् न एजति' वह बिल्कुल नहीं चलता ! 'तद् दूरे'—वह बहुत दूर है और 'तदु अन्तिके' वह बिल्कुल पास है ! वह अन्दर है और वह बाहर है। यह विरुद्धधर्मवत्ता हुई। जहाँ विरोधी धर्म रहें, वही वस्तुतः परमात्मा का रूप है। लेकिन वास्तविक विरोध नहीं होता है, विरोधाभास होता है। वेदों में विरोधाभास के द्वारा ही परमात्मा का प्रतिपादन किया। विरुद्ध धर्मों का समन्वय जिसमें हो वह परमात्मतत्त्व है। अब भगवान् में यह विरोध वास्तविक क्यों नहीं,

इसे बताते हैं।

पहला विरोध ऐश्वर्य और वैराग्य का है। सामान्य रूप से जहाँ ऐश्वर्य होता है, वहाँ वैराग्य नहीं होता। लेकिन भगवान् में इनका समन्वय कैसे है ? प्रायः शासन वही कर सकता है जिसमें कोई इच्छा हो। लेकिन एक बिना इच्छा का भी शासन होता है। हमारी इच्छा नहीं कि हम शासन करें, फिर भी शासन हो जाता है। भगवान् सर्वज्ञ शंकर लिखते हैं कि वह शासन राजवत् है। बृहदारण्यक-भाष्य में वे कहते हैं कि जैसे राजा कहीं चुपचाप जाना चाहता है, लोगों को बताना नहीं चाहता। लेकिन यदि पता लगा कि 'इस गाँव से राजा जा रहा है' तो सारे लोग तैयार होकर भेंट लेकर या केवल देखने के लिये रास्ते में खड़े हो जाते हैं। यहाँ राजा की इच्छा नहीं है, लेकिन फिर भी लोग पहुँच जाते हैं। आजकल के राजा नहीं समझना जो आने से पहले सब जगह प्रचार कराते हैं, स्कूलों में छुट्टी घोषित कराते हैं, लड़कों को निर्देश देकर खड़ा करते हैं, पुलिस को खड़ा रखते हैं; यह सब इसलिये कि सबको पता लगे कि प्रधानमंत्री आ रहे हैं। किन्तु यह राजा का ढंग नहीं है। स्वतः राजा का ऐश्वर्य ऐसा होना चाहिये कि उसकी उपस्थिति में सबको शासन में आने की स्वाभाविकी प्रवृत्ति हो। आजकल कई बार लोग कहते हैं कि स्मृतियों में राजा को भगवान् की विभूति कहा है। गीता में भी भगवान् ने कहा 'नराणां च नराधिपः'। मनुस्मृति में कहा—'प्रत्यक्षदेवताह्येषा नररूपेण तिष्ठति' राजा प्रत्यक्ष देवता है। फिर आजकल के राजा को भी ऐसा क्यों न मान लिया जाये ? इसलिये कि ये राजा नहीं हैं।

काश्मीर के इतिहास का एक ग्रंथ 'राजतरंगिणी' कल्हण का

लिखा हुआ है। उसमें उसने बताया है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी में राजा ललितादित्य का पुत्र जब राजा बना तब तुर्क देश से एक व्यक्ति उसकी सेवा में आया और राजा का उससे अत्यधिक स्नेह हो गया। यहाँ राजा का लक्षण बता रहे हैं क्योंकि ईश्वर को समझना है। श्रुति में ईश्वर को राजा बताया है 'अधिपतिर्भूतानाम् एष राजा'। इसलिये राजा का स्वरूप समझना ज़रूरी है, नहीं तो आजकल के राजा जैसा ईश्वर को समझ लोगे ! तुर्क देश के रहने वाले से ललितादित्य के पुत्र की मित्रता हो गई। एक बार राजा ने अफगान आदि देश पर आक्रमण करने की तैयारी की क्योंकि धन लाना था। तुर्क देश वाले ने पूछा 'इतनी तैयारी क्यों कर रहे हो ?' राजा ने कहा 'बहुत साल हो गये किसी राज्य पर चढ़ाई नहीं की, इसलिये धन दूसरी जगह से नहीं आया। प्रजा के पास धन कम हो रहा है। दो-एक आक्रमण करके धन एकत्रित करके लायेंगे तो प्रजा को धन मिलेगा।' तुर्क ने कहा—'राजन् ! किस लिये आक्रमण करते हो ! लोग मरेंगे, आपकी जान भी खतरे में पड़ेगी, कठिनाइयों में जाना पड़ेगा। युद्ध में बड़े दुःख उठाने पड़ते हैं, इसलिये युद्ध करने क्यों जाते हैं ?' राजा ने कहा—'युद्ध करने नहीं जायेंगे तो प्रजा को धन कैसे मिलेगा ? व्यापारी जब सौदा बेचेगा, तभी धन आयेगा। ऐसे ही जब राजा आक्रमण करेगा, तब धन आयेगा।' तुर्क ने कहा—'मैं ऐसी प्रक्रिया बताता हूँ जिसमें ये सारे कष्ट न उठाने पड़ें और धन भी आ जाये। आप अपने राज्य की प्रजा पर कर लगा दो।' जब ललितादित्य को इस बात का पता लगा तो उसने कहा कि 'इस व्यक्ति को देश-निकाला देना चाहिये। राजा का काम है प्रजा का पोषण करना और वह

प्रजा से ही कर लेने लग जाये तो राजा किस बात का ! राजा का कर्तव्य है कि बाहर से लाकर प्रजा को दे, तभी वह राजा हुआ।'

घर में ही समझ लो—जो आदमी कमाये नहीं, घर की औरत की कमाई में से पैसा निकालने का प्रयत्न करे या उसके गहने बेचने का प्रयत्न करे और घर में लड़के को कोई दस-बीस रुपये दे जाये तो उसे छीनने का प्रयत्न करे; तो क्या उसे घर का मालिक मान सकते हैं ? जिस प्रकार घर के मालिक का कर्तव्य है कि वह बाहर से कमाकर लाये, पत्नी के लिये दो साड़ियाँ लाये और उसे चार गहने बनवाये, पुत्र को भी दे, वह मालिक है। जो औरत और पुत्र से काम करवाये, खुद खाये, वह मालिक नहीं हो सकता। इसलिये ललितादित्य ने कहा 'इसे निकाल बाहर करो। हम राजा किस बात के हैं।' कल्हण लिखता है कि ललितादित्य ने तो उसे निकाल दिया लेकिन उसके पुत्र के ऊपर जो उसका प्रभाव पड़ा उसके फलस्वरूप उसने आर्य संस्कृति के विरुद्ध एक नई चाल चलाई कि राजा प्रजा को लूटे। तुर्क देश से यह विचारधारा आई और बढ़ती गई। तुर्कों का राज्य हो गया। आज तक यह दृष्टि है और बढ़ती जा रही है कि कैसे प्रजा को लूटें। उसे क्या देवें, यह दृष्टि नहीं है। इसलिये ये राजा नहीं हैं। श्रीमद्भागवत में भी कहा कि कलियुग में राजा वह होगा जो प्रजा को लूटेगा ! इसीलिये उस राजा का स्वतः कोई ऐश्वर्य नहीं होता। घर का पोषण करने वाले के प्रति घर में आते ही सब लोगों के मन में प्रेम और श्रद्धा का उदय होता है क्योंकि बाहर से कमाकर लाया है। जो घर के ऊपर ही अपनी दृष्टि लगाये, अपना काम निकालना चाहे तो पत्नी भी कहती है कि 'थाली पड़ी है खा लो।' वह अपना

ज़ोर जमाता है कि 'मैं घर का अधिपति हूँ, पत्नी होकर पति का आदर नहीं करती !' यह बात उसे कहनी पड़ती है जो घर का पोषण नहीं करता, उसी को अपना रुबाव जमाना पड़ता है, लेकिन मानता कोई नहीं। इसी प्रकार आज का तथाकथित राजा कहता है कि 'हम तुम्हारे ऊपर राज कर रहे हैं, हम तुम्हें सुखी करना चाहते हैं, हम तुम्हारे लिये बहुत कष्ट उठा रहे हैं।' लेकिन प्रजा कहती है अपना रास्ता पकड़ो, क्यों तंग कर रहे हो ?

परमात्मा ऐसा राजा नहीं है। सूर्य रूप से तप रहा परमात्मा हमें वर्षा, प्रकाश और गर्मी देता है और हमसे कुछ नहीं लेता है। नदी तुम्हें जल देती है, अनाज को पैदा करने के लिये तरह-तरह के इन्तजाम करती है, आज के युग में बिजली देती है, तुमसे क्या लेती है ? पृथ्वी तुम्हें आश्रय देती है, तुम्हारे मकान इत्यादि बनाने के लिये सीमेण्ट, ईंट इत्यादि सारी सामग्री भी वहीं से मिलती है। बदले में क्या लेती है। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्, य आदित्ये तिष्ठन् यः अप्सु तिष्ठन्।' परमात्मा के अन्दर ऐश्वर्य स्वाभाविक है, शासन करने की उसमें *इच्छा* नहीं है। 'मैं शासन करूँ या दूसरे मुझे शासक मानें' यह उसकी इच्छा नहीं है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि जैसे चुम्बक की उपस्थिति में लोहा स्वतः खिंचता है इसी प्रकार राजा की उपस्थिति में प्रजा स्वतः श्रद्धा अर्पण करती है, वह माँगता नहीं। इसी प्रकार परमात्मा के अंदर ऐश्वर्य की पूर्णता होने पर भी वैराग्य है, क्योंकि उसे कोई इच्छा नहीं है। गीता में भगवान् ने अपने बारे में बताया 'नानवाप्तम् अवाप्तव्यं' कोई ऐसी चीज़ नहीं जो मुझे प्राप्त नहीं, कोई नई चीज़ मुझे प्राप्त हो जाये, यह भी इच्छा नहीं है। यह वैराग्य की पूर्णता है।

विष्णुसहस्रनाम में परमात्मा का रूप बताया 'अमानी मानदो मानी।' उनके अन्दर 'मेरा कोई मान करे' यह इच्छा नहीं। उल्टा 'मानदः' वह दूसरों को मान देते हैं, लेकिन मान्य बने रहते हैं, सब उनका मान करते हैं।

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ करने की सारी तैयारियाँ हो गईं। जब कोई बड़ा यज्ञ होता है तब सब लोगों को बुलाया जाता है। युधिष्ठिर इत्यादि ने निर्णय किया कि भगवान् को कोई काम नहीं देना है। उनका आन्तरिक भाव था कि यज्ञ में भगवान् को प्रथम पूजा का पात्र बनायेंगे। भगवान् ने आकर कहा 'मुझे भी कोई काम बताओ।' यह हमारी भारतीय संस्कृति थी। किसी के घर विवाह-शादी हो तो सब लोग बुलाये जाते थे। वे आकर पूछते थे कि कोई काम बताइये। आज दोष निकालने आते हैं ! 'दाल-साग ठीक नहीं बना, सवेरे चाय ठीक नहीं आई।' यह सब विदेशी संस्कृति है। दूसरे में दोष की दृष्टि करना विदेशी संस्कृति है। 'मैंने क्या नहीं किया' यह भारतीय व्यक्ति सोचता है। हमारे यहाँ का बड़े से बड़ा अधिकारी आज कह देता है कि 'मेरे सहकर्मी ने मेरा साथ नहीं दिया, इसलिये मैं आठ साल तक कुछ नहीं कर सका', फिर कहेगा कि 'मेरे अंतर्गत कार्य करने वाले ने सहयोग नहीं किया' और अंत में कहेगा कि 'प्रजा ने सहयोग नहीं किया!' 'मुझ में कोई दोष है' यह विदेशी संस्कृति से प्रभावित व्यक्ति के मुख से नहीं निकलेगा। 'मैं निर्दुष्ट हूँ, अन्य सभी दोष वाले हैं' ऐसा मानने वाले लोग आज अपने को राष्ट्र का अधिपति मानते हैं। उनके भाषण में यह कहीं सुनने को मिलने वाला नहीं है कि 'मुझ में यह खराबी है।' हमारे यहाँ राम, कृष्ण जगह-जगह कहते

हैं कि 'मुझसे भूल हो गई', वस्तुतः है नहीं, लेकिन फिर भी कहते हैं। गांधी जी कह दिया करते थे कि 'मेरी यह भूल हिमालय जैसी है।' लेकिन आज लोग इतने अधिक प्रौढ परमात्मरूप हो गये हैं कि एक बार भी सुनने को नहीं मिलता है कि 'मेरी ग़लती है'!

भगवान् भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। इसलिये वहाँ पहुँचे तो पूछा 'मैं क्या करूँ ?' ग़लती निकालने के लिये नहीं पहुँचे। भीम हँसकर कहने लगा 'अब तो कोई काम बचा नहीं है।' भगवान् ने कहा, 'आखिर मैं आया हूँ, कुन्ती मेरी बुआ है, मुझे ऐसे दूर मत करो, कुछ काम तो बताओ।' युधिष्ठिर ने कहा 'अब तो सारे काम बँट गये।' सब कामों की फहरिस्त दिखा दी कि अब कुछ नहीं बचा है। भगवान् ने देखकर कहा 'जो बचा है, वह करूँगा।' अर्जुन ने पूछा तो कहा 'ब्राह्मण-भोजन होगा तो पत्तलें मैं उठाऊँगा।' 'अमानी'—यह घमण्ड नहीं कि मैं कौन हूँ। 'मानदः' बड़ों को मान दिया। युधिष्ठिर भगवान् से बड़े थे, उन्हें मान दिया। सब लोग हल्ला मचाने लगे कि 'यह कैसे हो सकता है ?' भगवान् ने कहा 'यह कैसे नहीं हो सकता है ? इससे शुभ कार्य और क्या है ? यज्ञ में आये लोगों की सेवा करने से उत्तम कार्य और क्या होगा ?'

यह भारतीय संस्कृति है कि जिसे हम ईश्वर का अवतार मानते हैं वह मानरहित है। आज जो व्यक्ति चारों तरफ सर्वथा नौकरों से, फौज से, पुलिस से घिरा हुआ है, वह केवल कहता है कि 'मैं देश का प्रथम सेवक हूँ।' कहो, कोई काम करोगे ? तो कहता है 'नहीं।' 'सेवक इसलिये हूँ कि मुझे राजा बना दिया, यही सेवा कर सकता हूँ। और कुछ नहीं।' कितना बड़ा मान ब्रह्मऋषियों

को भगवान् के द्वारा मिला ! उनकी विशेषता बता रहे हैं 'ब्रह्मऋषियों की पत्तलों को उठाने से मेरे पाप नष्ट हो जायेंगे।' अन्यत्र भी भागवत में कहा है कि भगवान् कहते हैं 'पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः' 'मैं ब्रह्मनिष्ठों के पीछे चलता हूँ, क्योंकि उनके चरणों से जो धूल उड़ती है, वह मेरे ऊपर गिर जायेगी। मुझसे बहुत से कामों में गड़बड़ हो जाती है, उस चरण धूलि से मैं पवित्र हो जाऊँगा।' —यह उनकी दृष्टि है ! इसलिये हम उन्हें ईश्वर कहते हैं। अपने को ही सब कुछ मानने वाला हिरण्यकशिपु कहता था कि 'मैं ईश्वर हूँ', लेकिन किसी ने उसे नहीं माना। भगवान् कृष्ण जैसे कहते हैं, उसी प्रकार भगवान् राम से जब कहा जाता है 'आप अवतार हैं' तब भगवान् कहते हैं 'आत्मानं मानुषं मन्ये' 'मैं अपने को मनुष्य मानता हूँ। आप मुझे क्यों भगवान् कहते हैं ?' यह भग-वान् में स्वाभाविक है। तब नतीजा हुआ कि राजसूय में सबने निश्चय किया कि कृष्ण की ही प्रथम पूजा हो। केवल शिशुपाल ने विरोध किया और उसे दोष का फल भोगना पड़ा। सारे लोगों के रहते शिशुपाल को मार दिया चूँकि ऐश्वर्य पूर्ण था। पत्तलें उठाने को तैयार ही नहीं थे बल्कि उठाई भी।

वैराग्य की सहसिद्धता पूर्णरूप से ईश्वर में उत्कट अनुभव होती है। जहाँ ऐश्वर्य *स्वाभाविक* होता है वहाँ वैराग्य होता है। जहाँ प्रयत्न के द्वारा ऐश्वर्य होता है, वह रागात्मक होता है, वहाँ वैराग्य नहीं होता। आज से चालीस वर्ष पूर्व की बात याद होगी कि लोग कहते थे 'मैं चुनाव में खड़ा नहीं होऊँगा' लेकिन दूसरे कहा करते थे कि 'हमें आपको जिताना है।' आज सब कहते हैं कि 'मुझे वोट दो !' यह दृष्टि क्यों है ? क्योंकि उनके अन्दर

ऐश्वर्य और योग्यता स्वाभाविक थी, वे माँगते नहीं थे कि 'मुझे मानो।' आज सवेरे से शाम तक बीस-बाईस भाषण देते हैं कि 'मुझे वोट दो।' यह ऐश्वर्य अस्वाभाविक है। चूँकि यह ऐश्वर्य परमात्मा के अन्दर स्वाभाविक है, सहसिद्ध है, इसलिये वहाँ वैराग्य रह सकता है। जहाँ ऐश्वर्य के लिये प्रयत्न होता है, वहाँ वैसा सम्भव नहीं है। जीव ऐश्वर्य के लिये प्रयत्न करता है क्योंकि उसमें यह स्वाभाविक नहीं है। इसीलिये जीव में दोनों—ऐश्वर्य और वैराग्य—साथ-साथ नहीं रहेंगे। ईश्वर में ऐश्वर्य स्वाभाविक है, प्रयत्नसाध्य नहीं, इसलिये उसमें वैराग्य भी रह जायेगा। विरोध वहाँ दीखने पर भी सच्चा नहीं, इसलिये कह दिया कि विरोधाभास है।

दूसरा विरोध धर्म और लक्ष्मी का बताया। लक्ष्मी स्वाभाविक रूप से उनकी शक्ति है, इसलिये श्री उनके लिये प्रयत्नसाध्य नहीं है। उनमें तो धर्म और लक्ष्मी दोनों का समन्वय हो जायेगा। जहाँ श्री प्रयत्नसाध्य होगी, वहाँ धर्म के साथ उसका संग नहीं बनेगा। इसी प्रकार ईश्वर में यश स्वाभाविक है। श्रुति ने तो परमात्मा का नाम ही यश रख दिया 'तस्य नाम महद् यशः।' एक ईश्वर ही ऐसा है जिसका यश सब देश काल में है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो ईश्वर का यश न गाता हो। कोई कहता है कि 'ईश्वर है', तो यह उसका यश है। कोई कहता है कि 'ईश्वर नहीं है' तो वह भी तो यश उसीका कह रहा है ! ईश्वर को कोई दृष्टि से ओझल नहीं कर सकता। उसकी सत्ता को या 'है', कहोगे, या 'नहीं है' कहोगे। मान्धाता बहुत बड़े राजा थे, अन्य भी बड़े-से-बड़े राजा हुए। किसी से पूछो कि मान्धाता कौन था ?

कहेगा 'पता नहीं !' महान्-से-महान् पुरुष के विषय में लोगों को पता नहीं है। लेकिन ईश्वर के विषय में अफ्रीका के घोर जंगल के आदिवासियों से लेकर रूस और अमरीका के बड़े से बड़े वैज्ञानिक, तक कोई नहीं कहेगा कि ईश्वर का उसे पता नहीं। यह कोई नहीं कह सकता कि यह नाम तो सुना ही नहीं। इसलिये श्रुति ने कहा 'तस्य नाम महद्यशः'। परमात्मा को यश के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके लिये तो स्वाभाविक है।

हम लोगों के लिये यश, श्री और ऐश्वर्य प्रयत्नसाध्य हैं। इसी प्रकार हम लोगों के लिये ज्ञान, धर्म और वैराग्य भी प्रयत्न-साध्य हैं, प्रयत्न करने पर ही मिलेंगे, उसके बिना मिलने वाले नहीं हैं। यश, श्री और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न का नाम प्रवृत्ति है। 'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकं' महाराजा मनु मनुस्मृति में कहते हैं कि वैदिक कर्म दो तरह के होते हैं—प्रवृत्त कर्म और निवृत्त कर्म। प्रवृत्त कर्मों के द्वारा यश, श्री और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और निवृत्त कर्मों के द्वारा धर्म, ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति होती है। प्रवृत्त और निवृत्त कर्म आपस में विरोधी हैं। इसलिये प्रवृत्त कर्म करने वाला निवृत्त कर्म से दूर हो जायेगा और निवृत्त कर्म करने वाला प्रवृत्त से दूर हो जायेगा। हम लोगों के लिये दोनों ही यत्नसाध्य हैं। परमात्मा में ये चूँकि स्वाभाविक हैं इसलिये दोनों उनमें एक साथ रह जाते हैं।

इसे बताते हुए भगवान भाष्यकार एक जगह लिखते हैं कि परमेश्वर के अंदर विरोधी कर्म कैसे रहते हैं ?—

'अशेषब्रह्माण्डप्रलयविधिनैसर्गिकमतिः
श्मशानेष्वासीनः कृतभसितलेपः पशुपतिः।

दधौ कण्ठे हालाहलमखिलभूगोलकृपया
भवत्याः संगत्याः फलमिति च कल्याणि कलये।।'

इसमें भगवान् की विरुद्ध-धर्माक्रांतता बताते हैं। अशेष ब्रह्माण्ड का प्रलय करना उनके लिये नैसर्गिक (स्वाभाविक) है। ब्रह्माण्ड का नाश दो तरह से होता है—निरवशेष और सावशेष। अगर साँप को लाठी से मार दिया तो साँप मर गया लेकिन मुर्दा रह गया, इसका नाम सावशेष नाश है। यदि रस्सी में दीखने वाला साँप बत्ती में देखा तो उसका कुछ नहीं रहा, यह निरवशेष नाश है। जहाँ कुछ बचे वह सावशेष और जहाँ कुछ न बचे वह निरवशेष नाश है। प्रलय काल में जो सृष्टि की समाप्ति होती है, वह सावशेष होती है। संसार नष्ट हुआ लेकिन उसका कारण माया नहीं गई। इसलिये उसमें से फिर सृष्टि के आदि में उत्पत्ति हो जाती है। यह प्रलय कालाग्निरुद्र का काम है। रुद्र ऐसा संहार (सावशेष नाश) करते हैं। सावशेष नाश में भी कुछ सुख मिलता है। आप सब लोग गहरी नींद में अनुभव करते हैं 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति'। जीव सुषुप्ति में अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सबको अपनी अविद्या में लीन करता है। वहाँ आँखें नहीं हैं, अगर आँख होती तो क्या चोर तकिये के नीचे से रुपया उठा ले जाता और पता न लगता ? अविद्या में सबको लीन कर दिया, लेकिन यह सावशेष है। इसीलिये फिर 'पुनश्च जन्मांतरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।' जन्मान्तर कर्मयोग होने पर फिर उदय हो जाता है, सवेरे फिर सारे उपकरणों सहित जीव वैसे का वैसा हो जाता है। इसमें भी सुख है, इसलिये कहा 'सुखरूपमेति।' सावशेष नाश से उठकर तरोताज़ा हो जाता

है, लेकिन फिर दिन भर काम करने के लिये तैयार है। यदि किसी दिन नींद ठीक न आये तो स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और गुस्सा करता है। कारण यह है कि सुख नहीं मिला। जब नींद में सुख मिलता भी है तब यह सुख उतने ही समय तक है जितनी देर सोये। इसी प्रकार प्रलय काल में सब जीवों को सुख मिल जाता है, लेकिन वह सुख परिच्छिन्न है।

भगवान् शंकर अशेष (निरवशेष) नाश करते हैं। ज्ञान के द्वारा जब जगत् का नाश होता है तब *जगत् का कुछ नहीं* बचता अर्थात् निरवशेष नाश हो जाता है। इसलिये फिर वापिस इस जगत् का प्रसंग उठता ही नहीं जैसे रस्सी के साँप को दीपक में देख लिया तो वहाँ साँप का कुछ नहीं बचता है तो साँप का पुनःजन्म भी नहीं होता। ज्ञान के द्वारा बाध होता है। यही अशेषब्रह्माण्ड-प्रलय है; वे सारे संसार को अपने में लीन कर लेते हैं। ब्रह्माण्ड के अन्दर ऐसा कुछ नहीं रह जाता जो शिव न हो। भेद का नाम-निशान ही नहीं रहता, भेद सर्वथा नष्ट हो जाता है। यदि कोई दूसरी वस्तु रह जाये तो फिर ब्रह्म-पदार्थ सिद्ध नहीं होगा।

जब यह अशेष-ब्रह्माण्ड-प्रलय उसे करना है तब इसके लिये बड़ा प्रयत्न करना पड़ता होगा—ऐसा नहीं है। कहते हैं 'नैसर्गिकमतिः' यह तो उनके लिये स्वभाव-सिद्ध है। ज्ञान के द्वारा जगत् का बाध हो जाना तो बड़ी सरल चीज़ है, इसमें कोई कठिनाई नहीं। लोग कहते हैं कि ज्ञान बड़ा कठिन है, लेकिन वस्तुतः ज्ञान कठिन नहीं है, अज्ञान बड़ा कठिन है। जो अपना स्वभाव है, उस में क्या कठिनाई है ? मन को लाओ, इन्द्रियों को लाओ और फिर उसके द्वारा बाहर जाओ, तब विषयदर्शन हो—यह कितना टण्टा

है। लेकिन आत्मा के लिये कुछ नहीं करना पड़ता क्योंकि वह स्वभाव-सिद्ध है। फिर कहोगे कि हम लोगों को कठिनाई क्यों लगती है ? एक बार हम कहीं गये हुए थे। एक सज्जन भी हमारे साथ थे जो किसी समय बैंक के मैनेजिंग डायरेक्टर रहे थे और उसी साल रिटायर हुए थे। जहाँ हम रहते थे, वहाँ बड़ी शान्ति थी। थोड़े दिन बाद कहने लगे, 'मन नहीं लगता।' हमने कहा—'ऐसी क्या बात है ?' कहने लगे 'कुछ काम किये बिना रहा नहीं जाता।' काम करने में परिश्रम होता है, न करने में कुछ परिश्रम नहीं होता। लेकिन जिसकी आदत पड़ गई, वह नहीं हटती। इसी प्रकार अज्ञान को करते-करते उसकी आदत डाल दी। जिस समय आत्म-तत्त्व का विचार सुनते हैं, उस समय फट कहते हैं कि 'बात तो बैठ गई।' फिर कहते हैं 'कुछ करना है!' अज्ञानबंधन में फँसता है, वहाँ तड़फड़ाता है तो फिर आता है। अतः ज्ञान स्वभाव है, उसमें कुछ कठिनाई नहीं है। सारे प्रयत्न का शैथिल्य करो तो ज्ञान स्वतः सिद्ध है। क्या सोने के लिये कुछ प्रयत्न करना पड़ता है ? जगने के लिये तो प्रयत्न करना पड़ता है। रात में अलार्म घड़ी लेकर सोते हैं कि समय से जग जायें लेकिन सोने के लिये कुछ नहीं करना पड़ता है। जब नींद नहीं आती तो वहाँ भी चिंता नाम की चीज़ को लाना पड़ता है। जगने का प्रयत्न ही चिंता करना है। एक सूत्र बता दें—नींद न आने का सबसे बड़ा कारण 'मुझे नींद नहीं आयेगी' इसकी चिन्ता है। अधिकतर उन्निद्रा के रोग का कारण होता है कि 'मुझे अभी नींद नहीं आई' यह चिंता ! इसी के मारे नींद नहीं आती।

भगवान् क्या करते हैं, 'श्मशानेष्वासीनः' श्मशान में बैठते

हैं, क्योंकि वहाँ बड़ी शांति रहती है। लोग कहते हैं कि रात में वहीं भूत-प्रेत नाचते हैं। अगर यह बात न कहें तो तुम लोग वहाँ पहुँच जाओ, फिर वहाँ भजन कैसे करें। भूत मायने जो पहले था, इस समय नहीं है और प्रेत—'प्रकर्षण इतः गतः'। इसलिये वहाँ भूत-प्रेत नाचते हैं, नहीं तो वहाँ भी हल्ला करोगे, लोग भजन कैसे करेंगे ! वस्तुतः श्मशान क्या है ? द्वैत-बुद्धि को जहाँ जला दिया गया, वही श्मशान है। वहीं पर भगवान् शंकर रहते हैं जहाँ द्वैतबुद्धि को जला दिया गया। श्मशान में सब एक हो जाते हैं। बड़े से बड़ा पापी और पुण्यात्मा सिवाय मुट्ठी भर राख के और कुछ नहीं रहता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि पिता अपिता, माता अमाता, भ्रूणहा अभ्रूणहा हो जाता है। बड़े-से-बड़े पाप करने वाला पापी नहीं रहता। पिता पिता नहीं रहता और माता माता नहीं रहती, सभी एक हो जाते हैं। जहाँ द्वैत की तरह भी होता है वहाँ सारे भेद रहेंगे। लेकिन जहाँ सब कुछ आत्मरूप हो गया वहाँ किससे किसे देखे ? किससे किसे सूंघे ? —यह श्मशान है।

शुरू-शुरू में जब श्मशान में जाते हैं तब भूत-प्रेत नाचते हैं। पहले के द्वैतदर्शन के संस्कार बार-बार उदय होते हैं, जानता है कि मर चुके हैं, लेकिन संस्कारवशात् लगते हैं। 'कृतभसितलेपः पशुपतिः'। नेति-नेति उसकी भस्मी है 'अशीर्यो नहि शीर्यते असंगो नहि सज्यते।' कोई आसक्ति नहीं होती है, शंकर में यही बचा है। इसी को शास्त्रीय भाषा में अविद्यालेश या प्रारब्ध का बचना कह देते हैं। अविद्या तो जल गई लेकिन प्रारब्धरूप भस्मी शेष रह गई। उसे जलाने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसी को कहीं अविद्यागंध, कहीं छाया कह देते हैं। उसमें कुछ ताकत नहीं

है। ऐसे जो भगवान् शंकर पशुपति हैं, वे वस्तुतः संसार का अशेष नाश करने में समर्थ हैं। ज्ञान द्वारा आत्यन्तिक बाध करने में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

हमें लगता है कि वे सारे संसार को चला रहे हैं। यह कैसे होता है ? 'दधौ कण्ठे हालाहलमखिलभूगोलकृपया।' समुद्रमंथन में से हालाहल (जहर) निकला और सारे लोग उसके कारण जलने लगे। तब लोगों को परमेश्वर याद आये। यह प्रतिदिन का अनुभव है। नियम है कि जब कभी जीवन में सफलता और सुन्दर पदार्थ मिलते हैं तब तक 'हम करने वाले हैं'; जहाँ कोई चीज़ विपरीत पड़ी तो झट ईश्वर याद आ जाते हैं। बड़े से बड़े नास्तिक कहते हैं कि 'इस वर्ष दैवी प्रकोप हो गया' अर्थात् उन्हें देवता याद आये! तब लोगों ने परम शिव को याद किया और उनके पास पहुँचे। कहा 'इस हालाहल का क्या करें ? यह आप ही पियो तो काम चले।' जो संसार का सावशेष नहीं, निरवशेष नाश करने वाले हैं, वे संसार को बचाने में प्रवृत्ति कर गये ! उन्हें तो कहना चाहिये था 'मर जाओ, मेरा क्या !' लेकिन ऐसा नहीं कहा ! बल्कि पीकर अपने कण्ठ में धारण किया और ऐसा पिया कि हमेशा बना रहे। सारे प्राणियों के ऊपर कृपा करके ऐसा किया। यह विरोधाभास कहाँ से आ गया ? कहते हैं 'भवत्याः संगत्याः' हे भगवती ! आप उनके साथ रहती हैं; मैं समझता हूँ कि आपके संग के कारण ही उनके अंदर यह कृपा का बीज आ गया। यहाँ भगवती का संग क्यों कहा है ? ब्रह्म ही निरवशेष नाश करते हैं, ब्रह्म की रुचि सावशेष में नहीं है। ज्ञान प्रलयकाल में नहीं होगा, सुषुप्ति में भी नहीं होगा, ज्ञान तो जाग्रत् काल में होगा। सृष्टि का निर्माण

परमात्मा क्यों करते हैं ? इसका रहस्य है : परमात्मा हमें दुःखी करने के लिये नहीं करते, बल्कि हमारे अज्ञान का नाश करने के लिये करते हैं। कारणरूप से जब तक अविद्या है, तब तक उसका नाश नहीं। जब वह कार्य रूप में परिणत होगी तभी ब्रह्माकार वृत्ति बनेगी। यह जाग्रत् काल में होगा तब अविद्या का नाश होगा। इसलिये सृष्टि की उत्पत्ति की कि तुम्हारे अन्दर ज्ञान आ जाये जिससे निरवशेष नाश हो जाये। प्रत्यक्ष में यह विरुद्ध बात लगती है कि जो परमात्मा निरवशेष नाश करना चाहे वह सावशेष नाश न करने दे। लेकिन यह विरोधाभास है, वास्तव में विरोध नहीं। वेदांत की दृष्टि से जो ज्ञान, अथवा ब्रह्म अज्ञान का नाशक है, वही ब्रह्म अज्ञान के कार्य को सिद्ध भी करता है, वही साधक (सिद्ध करने वाला) है। ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ हुआ वह ब्रह्म निरवशेष नाशक हुआ और इतर-इतर वृत्तियों में आरूढ हुआ संसार को सिद्ध करता है। इसे सूर्य के दृष्टांत से समझ लो—सूर्य घास को बढ़ाता है। जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं, वहाँ घास सूख जायेगी। लेकिन सूर्यकान्तमणि में से उसी सूर्य की रश्मियों को केन्द्रित कर दो तो घास को जला देगा। मणि पर चढ़ा हुआ सूर्य घास को जलाने वाला है और उसके बिना वही घास को बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति के साथ युक्त हुआ, उपारूढ चेतन अज्ञान को नष्ट करने वाला है। उससे भिन्न वृत्ति पर चढ़ा हुआ अज्ञान के कार्य को सिद्ध करता है। घट, पट आदि को भी तो चेतन सिद्ध करेगा। इसलिये यह विरोधी धर्माक्रान्तता दीखती है, वास्तव में नहीं है, वहाँ भी उसकी कृपा ही है। इसीलिये वह कल्याणस्वरूप है कि भगवती की संगति है।

ये छह धर्म आपस में अत्यंत विरुद्ध प्रतीत होते हैं लेकिन विचार दृष्टि से विरोधाभास हैं, सचमुच विरुद्ध नहीं हैं। प्रथम त्रिक (ऐश्वर्य, यश और लक्ष्मी) प्रवृत्ति धर्म से प्राप्त होगा और दूसरा त्रिक (ज्ञान, वैराग्य और धर्म) निवृत्ति से प्राप्त होगा। इसलिये प्रयत्नशील में दोनों का विरोध चलेगा; लेकिन परमात्मा में दोनों सहज हैं, इसलिये स्वाभाविक रूप से उसमें रहते हैं। जिस शक्ति के कारण परमात्मा भगवान् बने, उसी के कारण भगवती शक्ति ही भग हुई। उक्त छहों विरुद्ध धर्म उसमें आवृत रहते हैं।

ॐ

प्रवचन-४

अत्यंत विरोधी धर्मों का परमात्मा में किस प्रकार समन्वय होता है इस पर विचार किया। यद्यपि ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य आपस में एक साथ नहीं रहते तथापि ईश्वर में ये सारे एक साथ मिलकर रहते हैं।

प्रश्न होता है कि ये उनके अन्दर कैसे रहते हैं ? दो प्रकार से चीज़ें रहती हैं—एक चीज में दूसरी चीज़, यह रहने का एक प्रकार है। और एक चीज़ का अभिन्न होकर दूसरी चीज़ के साथ रहना, दूसरा प्रकार है। जैसे रंग यदि कपड़े में रहता है तो कपड़े से एक होकर रहता है, कपड़े से अलग होकर नहीं रहता। अथवा दूध में पानी मिला दो तो दूध और पानी एक होकर रहते हैं, अलग होकर नहीं। इसी प्रकार ऐश्वर्य इत्यादि परमात्मा से अलग होकर नहीं रहते बल्कि उससे एक होकर रहते हैं। चूँकि एक होकर रहते हैं, इसलिये परमात्मा में उनका रहना सम्भव है। जीव में वे किसी कारण से हैं, इसलिये उसके साथ एक होकर रहना संभव नहीं है। परमात्मा का लक्षण करते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सत्यरूप है। शंका होती है कि क्या सत्य ब्रह्म में रहता है ? कहा कि सत्य ब्रह्म *में* नहीं रहता वरन् सत्य ही ब्रह्म है। ज्ञान ब्रह्म *में* नहीं रहता, वरन् ज्ञान ही ब्रह्म है। आनन्द ब्रह्म *में* नहीं रहता, वरन् आनंद ही ब्रह्म है। इसी प्रकार यहाँ जितने भी पदार्थ हैं वे सारे ब्रह्म में ब्रह्म से भिन्न होकर नहीं रहते।

इसी अभिन्नता को बताते हुए आचार्य कहते हैं:

'त्वमेव कारणं कार्यं क्रिया ज्ञानं त्वमेव च।

न त्वामम्बां विना किंचित् त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।'

हे भगवती! हे अम्ब ! तुम ही कारण हो। सब पदार्थों के प्रति अनेक कारणों को हम लोग देखते हैं लेकिन सारे कारण एकत्रित होने पर भी कभी-कभी कार्य उत्पन्न नहीं होता। कभी ऐसा भी होता है कि बिना कारण के भी कार्य उत्पन्न हो जाता है ! ऐसा क्यों होता है ? कहीं कारण सामग्री होने पर भी कार्य उत्पन्न नहीं होता, कहीं कारण सामग्री न होने पर भी कार्य उत्पन्न होता है। जैसे आजकल के ज़माने में सरकार ने 'लाटरी' नाम का एक जुआ चलाया है। वहाँ बिना मेहनत किये भी लाख रुपये आ जाते हैं, कहीं अत्यंत परिश्रम करते हुए भी नहीं आते। इसलिये सारे कारणों के अन्दर एक अज्ञात कारण मानना पड़ता है। यह बात आधुनिक विज्ञान में भी एक समस्या बनी हुई है। रेडियम नाम का एक पदार्थ होता है। छह महीने में उसका अमुक हिस्सा सीसा बन जाता है, यह पता है। यदि एक किलो होगा तो उसमें से आधा किलो सीसा बन जायेगा। यदि उस एक किलो के दो टुकड़े करके रखो तो उनके पाव-पाव हिस्से सीसा हो जायेंगे। चाहे कितने भी टुकड़े करते चले जाओ उसमें से आधा हिस्सा सीसा बनेगा। प्रश्न होता है कि कौन-सा हिस्सा ? इधर वाला पाव बनेगा अथवा उधर वाला ? यह कोई नहीं कह सकता। इसीलिये आज भौतिक विज्ञान के अन्दर भी अनिश्चित कारणतावाद मानना पड़ता है।

सारे कारणों का विवेचन करने पर कोई एक कारण ऐसा रहता

है जिसके बारे में पता नहीं चलता। उसके अभाव से कार्य-उत्पत्ति अवरुद्ध हो जाती है, और वही कारण ऐसा है जो दूसरी कारणसामग्री न होने पर भी फल को उत्पन्न कर लेता है ! यह जो निश्चित कारण है, वही हमारे लिये अनिश्चित कारण है ! हमें तो पता नहीं कि वह कौन-सा कारण है पर है वह निश्चित कारण क्योंकि वह हो तो कार्य उत्पन्न होता है और नहीं हो तो कार्य उत्पन्न नहीं होता। इसलिये कारण वह निश्चित है, लेकिन हमारे लिये हमेशा अज्ञात है। यही संवित्, भगवती है जो निश्चित कारण से उत्पन्न करेगी लेकिन उस कारण को हम नहीं समझ सकते। ऐसा नहीं कि नैयायिक के ईश्वर की तरह हमने ऐसा जगत् का कारण मान लिया। सारे कार्यों के प्रति ईश्वरेच्छा एक कारण है। नैयायिक ईश्वरेच्छा को कारण मानते हैं लेकिन उसे कार्य रूप नहीं मानते। वेदांत में केवल कारण ही भगवती हो, ऐसा नहीं बल्कि उस कारण से जो उत्पन्न होता है वह भी भगवती ही है ! आदमी से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह आदमी की जाति का होगा। उस संवित् से उत्पन्न होने वाला कार्य क्या संवित् से भिन्न जाति का हो सकता है ? अतः कारण भी संवित् ही है और कार्य भी संवित् ही है। नैयायिक ईश्वर को कारण तो मान लेते हैं लेकिन कार्य नहीं मानते। वेदांती कहता है कि कारण और कार्य दोनों वह ही है।

किसी ने कहा, 'यह ठीक है, कारण-कार्य भगवती को मान लिया। लेकिन कारण से कार्य उत्पन्न होने की क्रिया तो कुछ और होती होगी ? कारण सोना और कार्य गहना है। यहाँ तक तो मान लिया कि कारण सोना भी परमात्मा है और कार्य गहना

भी परमात्मा है। लेकिन जो क्रिया की गई, वह तो कुछ दूसरी होगी ?' आचार्य कहते हैं, यह भी नहीं। वह क्रिया भी संवित् से भिन्न नहीं है। कारण कार्य और क्रिया वही है। वस्तुतः विचारदृष्टि से क्रिया किसी-न-किसी पदार्थ में ही रहेगी। पदार्थ से भिन्न होकर रहेगी अथवा अभिन्न होकर ? पदार्थ से भिन्न होकर रहे तो दूसरी जगह भी दीखनी चाहिये। जैसे रंग तो किसी-न-किसी चीज़ में ही रहेगा। लोग खरीद कर लाते हैं कि 'लाल रंग लाये' लेकिन वह लाल *रंग* नहीं, लाल रंग का चूरा लाते हैं। बिना आधार के रंग नहीं रह सकता। ऐसे ही क्रिया बिना पदार्थ के कहीं नहीं रहेगी। इसलिये वह पदार्थ से भिन्न सिद्ध नहीं होगी। जब क्रिया पदार्थ से भिन्न नहीं और पदार्थ संवित् रूप है तब वह कार्य उससे भिन्न होकर कैसे रहेगा ! जैसे कारण, क्रिया और कार्य, वैसे ही यहाँ ज्ञान से ज्ञाता और ज्ञेय भी समझ लेना। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भी वह संवित् ही है। हे माता ! तुम्हारे सिवाय कुछ है ही नहीं। तुमसे रहित होकर कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह तुम्हारे अन्दर ही प्रतिष्ठित है। इसीलिये सारे विरोधी धर्म उसमें स्वतंत्र होकर रहते हैं। नहीं तो कारण और कार्य तो विरुद्ध हैं, कारण पहले होता है और कार्य बाद में होता है लेकिन जैसे कारण और कार्य से वह अभिन्न है, इसी प्रकार जितने विरोधी धर्म हैं उन सबसे वह अभिन्न ही है।

प्रश्न होता है कि यदि सब रूपों में एकमात्र भगवती संवित् ही है तो फिर उसकी मातारूप में पूजा क्यों ? इसका भी कारण है। सारी उपासनाओं का सिद्धान्त है कि जिस उपाधि से युक्त होकर तुम उपासना करोगे उसी उपाधि का तुम्हारे साथ संसर्ग

हो जायेगा। इसे लौकिक दृष्टांत से समझो। रास्ते में जा रहे हो और बड़ी भीड़ है। तुमको आगे जाना है तो तुमने किसी से कह दिया—'माता जी, मैं ज़रा आगे चला जाऊँ !' वह एक तरफ होकर कहती है—'चले जाओ।' यदि कहते हो—'अरी औरत, हट जा, मुझे आगे जाना है', तो वह तुम्हारी तरफ देखकर कहती है 'तेरी सड़क है ?' बात एक ही है लेकिन यदि उसमें मातृ-उपाधि की कल्पना की तो वह भी तुम्हारे प्रति बच्चे की उपाधि की कल्पना करके तुम्हें जाने देगी। यदि तुमने उसके अन्दर कल्पना की कि 'इसके ऊपर अपना शासन जमाऊँ' तो उसने भी नौकर की तरह हड़ताल वाला काम किया। जिस उपाधि से तुमने उसको विषय किया, उसी उपाधि का प्रतियोगी तुम्हारे ऊपर आ गया। यह लोक में सभी जगह होता है। जिस-जिस दृष्टि से तुम किसी दूसरे से व्यवहार करोगे तदनुकूल व्यवहार ही तुम्हारे ऊपर आयेगा। हम लोग प्रायः यह सोचते हैं कि हम एक व्यवहार करें और दूसरा कुछ और व्यवहार करे, पर वह नहीं बनता। आजकल पिताओं की बड़ी शिकायत रहती है कि लड़के हमारी बात नहीं मानते। हम पूछते हैं कि तुमने उन्हें क़भी बेटा समझा ? पुत्र का प्रेम तुमने उसके साथ किया ? तुम तो धन कमाने में लगे रहे, दोस्तों के साथ घूमने में, या व्यापार में लगे रहे। कभी दिन में दो घण्टे निकालकर प्रेम से बेटे के साथ बातचीत करते हो ? लोग कहते हैं कि काम से फुर्सत नहीं; तो बेटे को भी फुर्सत नहीं ! तुम्हारे अन्दर धन के प्रति जो प्रेम है, वह पुत्र के प्रति नहीं, तो तुम्हें धन मिलेगा, पुत्र-प्रेम नहीं मिलने वाला है। तुमने यदि उसके प्रति पुत्र का व्यवहार किया है तो वह भी अवश्य तुम्हारे प्रति पिता

का व्यवहार करेगा। यही बात सर्वत्र समझना। तुम्हारे जितने व्यवहार हैं उन सबके मूल में यही है कि जैसा तुम करोगे, वैसा ही उसका प्रतियोगी बनकर तुम्हारे सामने आयेगा।

इसका मतलब उल्टा नहीं समझना कि दूसरा कभी स्वतंत्र है ही नहीं। जैसे तुम करने में स्वतंत्र हो वैसे ही वह भी करने में स्वतंत्र है। जैसे तुमने अपने आपको स्वतंत्र होकर पुत्र के प्रति नहीं दिया, इसी प्रकार सम्भव है कि कोई पुत्र भी अपने पिता का प्रेम पाकर भी पिता को प्रेम न दे, लेकिन अधिकतर ऐसा नहीं होता। यदि यह मानेंगे कि पुत्र सर्वथा पिता के अधीन हो तो फिर पुत्र की स्वतंत्रता नहीं रहेगी। स्वतंत्रता का मतलब ही है ग़लत या अच्छा दोनों काम करने की स्वतंत्रता हो। हम लोग कहते हैं कि 'तुमको अच्छा काम करने की पूरी स्वतंत्रता है।' यह स्वतंत्रता नहीं, यह तो हुक्म हुआ कि 'अच्छा काम करो।' स्वतंत्रता वह है जो जीव को परमात्मा ने दी। तुम खड़े होकर भगवान् को हज़ार नहीं, लाख गालियाँ सुनाओ, वह कभी जबान नहीं रोकता। जब कर्मफल उदय होगा, फल मिलेगा, लेकिन तुम्हारी स्वतंत्रता कभी नहीं रोकता। यह भगवान् ने नहीं कहा कि 'धर्म करने में स्वतंत्र हो, अर्धम करोगे तो लकवा लग जायेगा।' इसलिये स्वतंत्रता का मतलब ही होता है जिसका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों कर सको। तुमने अपने पुत्र को प्रेम दिया, इतने पर भी पुत्र स्वतंत्र है कि वापिस तुम्हें प्रेम दे या द्वेष दे। लेकिन वह कभी-कभी होता है, किसी विशेष कारण से होता है। सामान्य नियम यही है कि जैसा करोगे, वैसा ही सामने वाले की प्रतियोगिता आयेगी।

जीवन में सबसे मधुर, रसमय और सबसे दया वाला व्यवहार माता से ही मिलता है। संसार में बाकी सब तुम्हारे विरुद्ध हो जायें फिर भी माता का हृदय विरुद्ध नहीं होता। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' कुपुत्र तो उत्पन्न हो जाये, किन्तु किसी भी देश काल में माँ कभी कुमाता नहीं होती। इटावा में एक बहुत बड़े जमींदार थे। उनके लड़के ने एक बार नालायकी का काम किया। गुस्से में उन्होंने उसे घर से निकाल दिया। वह पुराना ज़माना था जिस समय धर्म की कोई कीमत होती थी। आज के ज़माने में अधर्म की कीमत है। जो जितना बुरा काम करे उतनी ही उसकी बड़ाई होती है, सफल हो जाना चाहिये। यदि दुष्कर्म करके धन कमा लिया तो सफल हो गया। क्या किया—इसकी चिन्ता नहीं। दुष्कर्म करके चुनाव जीत गये तो सफल हो गये; जीतने में क्या क्रिया की—इसका विचार नहीं करते। लेकिन उस ज़माने में केवल फल को नहीं देखते थे यह भी देखते थे कि क्या किया है। पुत्र को घर से निकाल दिया। उसके पास कुछ नहीं था। इटावा में एक मठ है, उसके सामने एक बगीचा है, वह उसमें आकर ठहरा। हम लोगों ने सोचा कि इसे कुछ खाने-पीने को दे दिया जाये। दूसरे दिन फिर जब खाना भेजा तो उसने वापिस कर दिया और कहा कि 'मेरे पास आ गया है।' पूछा तो बताया कि 'रात में माँ ने पराँवठे भेज दिये थे।' मठ से तो उसे सूखी रोटी ही मिलनी थी ! रात में उसकी माँ चुपचाप किसी नौकर के हाथ पराँवठे भेजती रही। यह है माता का हृदय।

भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि परमेश्वर ने

एक तो बाकी सारी चीज़ें बनायीं, तंत्र शास्त्र की रचना की और एक मातृ-हृदय को लेकर रचना की।

'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।
पुनस्त्वन्निर्बन्धाद् अखिलपुरुषार्थैकघटना
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्।।'

पहले तो चौसठ भिन्न-भिन्न मार्गों को भगवान् ने बनाया, भिन्न-भिन्न प्रकार के परमात्म-प्राप्ति के साधन उनमें बताये। इन चौसठ प्रकार के साधनों में एक रहस्य है जिसका संक्षेप में संकेत कर देते हैं। मनुष्य के बंधन के आठ पुर हैं। वेदांत की भाषा में पुर्यष्टक हैं—कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, महाभूत, प्राण, अविद्या, काम और कर्म। ये आठ बंधन के कारण हैं। इन आठ को लेकर प्रत्येक के अन्दर किसीको गौण और किसी को प्रधान कर दिया। मनुष्य तो पूरा है, इसलिये उसमें आठों रहेंगे, लेकिन एक प्रधान रहेगा और बाकी सात गौण रहेंगे। इसी प्रकार कहीं प्रधानता दो की है और कहीं तीन की है। इस प्रधान और गौण को मिलायेंगे तो आठ के आठ-आठ प्रकार होने से चौसठ हो जायेंगे। भिन्न-भिन्न तंत्रों में भिन्न-भिन्न साधनायें बतायीं कि उन साधनों के बल से मनुष्य संसार से छूट जाये।

संसार में जितने साधन हो सकते हैं, उनका अतिसंधान कर लो, इनसे ज़्यादा बंधन के कारण नहीं हो सकते। भगवान् पशुपति उन-उन सिद्धियों की उत्पत्ति होने पर वह-वह फल दे देते हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने सारे साधन बना दिये। यह पिता का काम है

कि सारे नियम बनाये। जैसे घर में पिता नियम बना देता है कि 'कल आठ बजे कलेवे में बैठना होगा, नहीं तो कलेवा नहीं मिलेगा।' आठ बजे बेटा नहीं आया तो क्या भूखा रहेगा ? जब शिव ने अपना काम कर लिया तो हे माँ ! तुमसे नहीं रहा गया। तुमने कहा 'बाकी सबके लिये तो नियम बना दिये, मेरे लिये क्या बनाते हो ?' आपके साथ उनका निर्बन्ध हो गया। उन्होंने समझ लिया कि यह मानने वाली नहीं है। 'बेटा आठ बजे नहीं आयेगा तो ठीक है, यहाँ बैठकर नहीं दूँगी, कमरे में खिला दूँगी ! पराँवठा नहीं तो मठरी दे दूँगी।' आपने विचार किया कि इसको कुछ मानना तो है नहीं, इसलिये चाहे कुछ किया करे ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जो मर्ज़ी हो, सारे पुरुषार्थों को एक ही जैसा घटा दे ! देवी को स्वतंत्र कर दिया कि जो इच्छा हो सो कर लेना। यह स्वतंत्र तंत्र है। इसमें कोई नियम नहीं चलता। बच्चे ने अपराध किया है, माँ ने डाँट दिया, लेकिन इससे आगे दण्ड नहीं देगी। भगवान् शंकर को पता था, इसलिये पहले ही छूट दे दी।

माता की पूजा की इतनी विशेषता इसलिये है कि मातृ रूप से परमात्मा की पूजा में जो रस-परिपूर्णता है, उसके अन्दर जो दया है, वह अन्यत्र नहीं। दया का लक्षण भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'स्वार्थविरहिता परदुःखसहनासमर्थता' अर्थात् अपना तो कोई स्वार्थ न हो, उससे अपने को कुछ मिलने की आशा न हो लेकिन दूसरे का दुःख सहन न हो। दूसरा उसका उपकार मानेगा, इसलिये नहीं बल्कि 'दूसरे के दुःख को मैं सहन ही नहीं कर सकता' इसलिये परदुःख से जो मनोभाव उत्पन्न होता है वह दया है। माँ के अन्दर यह दया पूर्ण होती है। बच्चे के दुःख को वह बिल्कुल सहन नहीं

करती और बच्चे से माँ को कोई इच्छा भी नहीं है। यहाँ 'बच्चे' शब्द पर ध्यान देना, बेटा-बेटी शब्द नहीं कहा ! क्योंकि जब बच्चा बड़ा हो जाता है तब माँ की कुछ इच्छा अवश्य हो जाती है। लड़का बड़ा होकर कमाये और माँ भूखी हो और वह उसे कुछ न दे तो माँ के मन में खटका होता है। लेकिन जब तक वह बच्चा है, गोद में खेलने वाला है, तब तक माँ को उससे कोई अभिलाषा नहीं है।

परब्रह्ममहिषी के सामने हमें हमेशा बच्चा ही रहना है। यदि बड़े हो जाओगे तो फिर मातृस्नेह नहीं रहेगा ! अतः जिस उपाधि से हम उपासना करेंगे, वैसी ही उस उपासना की प्रतियोगिता रूप से हमको संसर्ग-प्राप्ति होगी। इसलिये यदि हमको पूर्ण दया की आवश्यकता है, हम रस की पूर्णता चाहते हैं तो हमें मातृ उपासना करनी पड़ेगी। यहाँ तक कि माँ यह भी नहीं देखती कि बच्चा ठीक बोल रहा है या ग़लत बोल रहा है। बताया है

'अस्पष्टम् अपि यन्नाम प्रसंगेनाऽपि ईरितं।
ददाति वाञ्छितान् अर्थान् दुर्लभान् अपि सर्वथा।'

बालक माता का अस्पष्ट नाम लेता है; बच्चा साफ नाम नहीं बोलता, तोतला बोलता है। उल्टा लोग माँ से पूछते हैं कि 'क्या कह रहा है ?' उसे पता नहीं है कि माँ को माँ कहा जाये। वह तो खाली प्रसंगेन कुछ भी ज़बान हिलाता है, होंठ हिलाकर बोल देता है और माँ कहती है, 'देखो मेरा नाम ले लिया !' खुश हो जाती है। और उसी से बच्चा सीख लेता है कि ऐसा कहूँगा तो खुश हो जायेगी, उसे सम्बन्ध-ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार जब

हम उस संवित् के अन्दर मातृ उपाधि का आधान करते हैं तब हम किसी मात्रा का उच्चारण अस्पष्ट कर जायें, हमें पता नहीं है, दूसरी बात में उच्चारण कर जायें तो भी वह स्वतंत्र तंत्र है, समझ जायेगी और यह भगवती जो चाहे वही पदार्थ दे देती है जो सामान्यतः दुर्लभ हों।

एक बार महर्षि लोमश के पास महर्षि जमदग्नि गये। जमदग्नि महर्षि बड़े ही क्रोधी प्रकृति के थे। उन्होंने लोमश जी से कहा कि 'मुझे कोई ऐसी उपासना बताइये कि मेरी गर्मी कुछ शान्त हो। क्या परमात्मा का कोई ऐसा रूप भी है जो मेरी इस गर्मी को शांत करे ?' लोमश महर्षि ने कहा कि 'आपके क्रोध के सामने तो देवता भी डरते हैं ! आप किसी को छोड़ते नहीं। लेकिन दया भरी भगवती की आराधना से सम्भव है कि आपके अन्दर कुछ दया उपज सके। दया और क्रोध विरुद्ध चीज़ें हैं। दया होगी तो क्रोध नहीं आयेगा, क्रोध होगा तो दया नहीं आयेगी।' उन्होंने पूछा कि 'भगवती ऐसा कैसे करती हैं ?' तब लोमश महर्षि ने उन्हें एक दृष्टांत सुनाया :

कौशल देश में देवदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके कोई संतति नहीं थी। उसने पुत्रेष्टि यज्ञ किया कि उसके फलस्वरूप पुत्र हो जायेगा। यह उसकी भावना थी। इसलिये उसने बड़े अच्छे-अच्छे महर्षियों को यज्ञ करने के लिये बुलाया। जैसे मुकदमा जीतने के लिये अच्छे वकील को और रोग ठीक करने के लिये अच्छे डॉक्टर को बुलाना पड़ता है, इसी प्रकार यज्ञ की सफलता चाहो तो योग्य ऋत्विकों को बुलाना पड़ेगा। उन महर्षियों के अन्दर एक बड़े प्रसिद्ध लेकिन काफी वृद्ध गोभिल नाम के

ब्राह्मण थे। उन्हें भी उसने बुला लिया था। तमसा नदी के तीर पर बैठकर यज्ञ प्रारंभ हुआ। गोभिल ऋषि साम-गान के लिये लाये गये थे। वे बुड्ढे थे और सामगान में लम्बी श्वास लेनी पड़ती है। वृद्ध होने के कारण उनका श्वास बीच में टूट जाये तो स्वरभंग हो जाये। देवदत्त के मन में यह था कि कहीं यज्ञ भंग हो गया तो लड़का पैदा नहीं होगा। उसे गुस्सा आ गया कि 'यह स्वर-भंग करता है, कहीं गड़बड़ न हो जाये', इसलिये उसने गुस्से में आकर कह दिया 'मूर्खोऽसि मुनिमुख्याद्य स्वरभंगस्त्वया कृतः'। 'अरे! तुम कहने को बड़े भारी मुनिमुख्य हो, लेकिन मूर्ख हो, क्योंकि तुमने बीच में स्वर छोड़ दिया।' क्रोध में आकर उसने ऐसा कह दिया। गोभिल महर्षि को बड़ी चोट लगी। उन्होंने कहा कि 'श्वास-प्रश्वास तो हरेक का स्वाभाविक हुआ करता है ! 'सर्वप्राणिशरीरे तु श्वासोच्छ्वासःसुदुर्ग्रहः।' सारे प्राणियों के शरीर में श्वास का आना-जाना स्वाभाविक है। साँस टूट जाना भी प्राकृतिक है, किसी से रोका नहीं जा सकता। तुमने मुझे मूर्ख कह दिया तो जा, तेरा पुत्र मूर्ख हो जायेगा।'

देवदत्त ने सोचा कि गज़ब हो गया। ब्राह्मण का पुत्र मूर्ख हो तो अत्यंत कष्ट की बात है। उसने हाथ-पैर जोड़कर माफी माँगी। सज्जनों का क्रोध क्षणमात्र का होता है, स्थिर नहीं रहता और दुष्ट जनों का क्रोध कल्पान्त में भी नहीं छूटता। पानी का स्वभाव ठण्डा है। अगर आग पर रखने से उसमें कुछ गर्मी आ भी गई तो कुछ समय में फिर ठण्डा हो जायेगा। इसी प्रकार अच्छे लोग स्वभाव से शीतल होते हैं। कोई ऐसा कारण आ गया तो गर्मी आई लेकिन जैसे ही कारण दूर हुआ, फिर ठण्डे हो गये, उनमें

क्रोध टिकता नहीं। जब देवदत्त ने माफी माँगी तो गोभिल महर्षि ने कहा 'शाप मैंने दे दिया, इसलिये पहले तो वह मूर्ख ही होगा, फिर पंडित हो जायेगा।'

समय आने पर देवदत्त के पुत्र हुआ। उसका नाम उतथ्य रखा गया। धीरे-धीरे बड़ा हुआ तो उसकी मूर्खता को देखकर सब हँसे। किसी तरह घेर-घार कर उसका यज्ञोपवीत करा दिया लेकिन वह वेद का मंत्र न सीखे तो न ही सीखे। सब लोग उससे दुःखी हो गये। पिता भी उसे डाँटे, बाकी सब लोग भी डाँटें। गाँव वाले भी उस पर हँसें। अंत में वह खुद भी अपने आप से परेशान हो गया, बुद्धि ही काम न करे तो वह क्या करे ! बेचारा भागकर जंगल में चला गया। अब उसने एक ही नियम लिया 'सत्यं ब्रूते स्थितः तत्र नानृतं वदते पुनः' कि केवल सत्य ही बोलता था, कभी भी और किसी भी हालत में झूठ नहीं बोलता था। कई बार वह अपने मन में विचार करे कि 'यथा वन्ध्या सुरूपा च यथा वा निष्फलो द्रुमः' जिस प्रकार से अत्यंत सुन्दर स्त्री हो और बाँझ हो तो उसकी सुन्दरता व्यर्थ हो जाती है, जिस प्रकार वृक्ष बढ़िया से बढ़िया हो लेकिन उसमें फल न हों तो व्यर्थ हो जाता है, इसी प्रकार मेरा भी जीवन ब्राह्मण का होकर भी विद्या-रहित होने के कारण व्यर्थ है।

वहाँ रहते-रहते उसे चौदह वर्ष बीत गये। वह सर्वथा शूद्रवत् रहता था। शूद्र की तरह बिना मंत्र बोले स्नान कर लेता था। उसने एक ही नियम सत्य बोलने का रखा। एक बार वह बैठा हुआ था कि उधर से व्याधराज शिकार खेलता हुआ निकला। उसने एक सूअर को बाण मार दिया था और वह सूअर खून से लथपथ

उसके सामने से निकला। उसकी अत्यंत कारुणिक स्थिति को देखकर उसके मुँह से निकल गया 'ऐ'। किसी को तड़पता देखें तो मारे दया के कंपकंपी आ जाती है। 'दयाभिवेशाद्, अतिक़म्पमानः सारस्वतं बीजमथोच्चचार' उतथ्य के अन्दर दया आ गई और उसके मुँह से ऐ-ऐ निकल गया। 'ऐं' यह भगवती का सारस्वत बीज है। बस, भगवती इसीलिये रुकी थी कि कोई मौका मिले; यद्यपि वह इस बीज का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाया था, खाली प्रसंगेन 'ऐ' बोला था जो अस्पष्ट था। 'मैंने भगवती का नाम लिया है' यह भी उसे पता नहीं था, प्रसंग का भी पता नहीं। लेकिन ऐसा मुख से निकल गया, उसी समय उसके अन्दर ज्ञान-संचार हो गया क्योंकि सारस्वत बीज का उच्चारण किया था। किस चीज का ज्ञान आया, यह बताते हैं : निषाद वहाँ पहुँचा तो उसने पूछा कि 'आप बड़े मुनि हैं, मेरा शिकार सूअर किधर गया ? बता दीजिये। मैं तो अपना गुज़ारा इसी से करता हूँ, घर वाले भूखे बैठे हैं, ले जाऊँगा तो खायेंगे।' उतथ्य ने सोचा कि 'मैंने सत्य बोलने का नियम किया था। अब यदि सत्य बोलता हूँ तो सूअर मारा जायेगा और यह निषाद अत्यंत कठिन स्थिति में है ही। अब मैं क्या करूँ ?' चूँकि 'ऐ' उच्चारण से उसके अन्दर ज्ञान आ गया था, उसने कहा 'या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति' 'अरे निषाद ! किससे पूछ रहा है ? जो आँख देखती है, वह बोलती नहीं और जो ज़बान बोलती है, वह देखती नहीं। अब तेरा जवाब कौन दे ?' निषाद बेचारा यह सुनकर ठण्डा पड़ गया।

विचार करो कि यहाँ ज्ञान क्या है। वस्तुतः इन्द्रियों से

अतिरिक्त मैं आत्मा हूँ, जो इन्द्रियविशिष्ट हुआ देखने और बोलने का अभिनय करता है। आँख ज्ञानेन्द्रिय और ज़बान कर्मेन्द्रिय को मिलाने वाला आत्मा स्वरूप से न बोलने वाला है और न देखने वाला है ! यही ज्ञान है। इसी ज्ञान का उसमें उदय हो गया। इस मंत्र का वह द्रष्टा हो गया। धीरे-धीरे वहाँ प्रसिद्धि हो गई कि सत्यव्रत ने ऐसी कठिन परिस्थिति में कैसा सुन्दर समाधान किया। उसके घर तक भी खबर पहुँची। वैज्ञानिक भी जीवन में एक ही आविष्कार करता है। इसी प्रकार किसी भी एक नैतिक, आध्यात्मिक सत्य का आविष्कार बड़ी भारी चीज़ होती है। लेकिन वह आविष्कार होना चाहिये, हृदय में उसका संचार होना चाहिये, केवल सुनी-सुनाई बात नहीं। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया 'हितं नराणां भवतीह येन तदेव सत्यं।' कि जिससे लोगों का हित हो, वही सत्य है। दूसरे को हानि पहुँचाने वाला वचन सत्य नहीं है।

यहाँ बता रहे हैं कि अस्पष्ट होते हुए भी, दूसरे प्रसंग में लिया हुआ भी भगवती का 'ऐं' बीज का उच्चारण किया तो सब कुछ प्राप्त कर लिया। माँ की यही विशेषता है कि वह हमेशा दयापूर्ण होती है। इच्छा न करके गड़बड़ नाम लेने से भी वह उसे अपना नाम स्वीकार करती है। इसलिये जब मातृरूप से उसकी उपासना करते हैं तब हमें उनका मातृ-वात्सल्य मिल जाता है।

ॐ

प्रवचन-५

सूत-संहिता के पाँचवे अध्याय के आधार पर भगवती की पूजा का प्रकार बता रहे हैं। पहले शक्ति का स्वरूप बताया, फिर वह वस्तुतः किस प्रकार अभिन्न है यह बताया। अब आगे उसकी पूजा का प्रकार बताते हुए कहा—

पूजा शक्तेःपरायास्तु द्विविधा परिकीर्तिता।

बाह्याभ्यन्तरभेदेन बाह्या तु त्रिविधा मता।

स्वरूप-प्रतिपादन के बाद उस पराशक्ति की पूजा के प्रकार बताते हैं। पराशक्ति की पूजा के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यंतर पूजा। उसमें फिर बाह्य पूजा तीन प्रकार की है। भक्ति के भेद से पूजा का भेद है। भगवती का रूप तो एक ही है, भेद पूजक को लेकर है, जिस प्रकार परमात्मा के विग्रहों में भेद उपासक की रुचि को लेकर है। उपास्य तत्त्व में कोई फ़र्क नहीं है। जिसकी उपासना और पूजा करते हैं, उसके स्वरूप में भेद नहीं है। भेद पूजक में है। कोई पूजक बाह्य दृष्टि वाला होता है और कोई आभ्यन्तर दृष्टि वाला होता है। बाह्य दृष्टि वाले पूजक पुनः तीन प्रकार के होते हैं। तमोगुणप्रधान, रजोगुणप्रधान और सत्त्वगुणप्रधान। जो इन तीनों गुणों का परित्याग करते हैं, वे आभ्यन्तर पूजा के अधिकारी बन जाते हैं। पूजा जब भी होती है, पराशक्ति की ही होती। तमोगुणी उपासक भी पूजा उसी की करता है, रजोगुणी

और सत्त्वगुणी उपासक भी उसी की पूजा करता है। त्रिगुणातीत भी उसी की पूजा करता है।

भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि संविद् भगवती के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। क्योंकि उससे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं इसलिये तमोगुणी भी अपने उपचारों से पूजा उसी की कर रहा है। पूजकों के भेद को लेकर ही पूजा का भेद है।

परपीडां समुद्दिश्य दम्भं कृत्वा पुरस्सरम्।

मात्सर्यक्रोधयुक्तो यः तस्य पूजा तु तामसी।।

तामसिक पूजक वह होता है जो दूसरों को पीडा देता है। उसका उद्देश्य ही किसी को पीडा देना है। किसी को मार डालने के लिये भी लोग पूजा करते हैं। झूठे मुकद्दमे को जीतने के लिये भी पूजा करवाते हैं। यह भी परपीडा है, क्योंकि मुकद्दमा झूठा है लेकिन चाहते हैं—हम जीत जावें। तरह-तरह से दूसरों को कष्ट देना ही उनका उद्देश्य है। इसीलिये ऐसे लोग पूजाकाल में और पूजा-सामग्री में भी दूसरे को कष्ट ही देते हैं। पूजा सामग्री में पशु को लेकर मारेंगे, कोई बकरा तो कोई भैंसा मार देता है। अपने अन्दर रहने वाले महिष और छाग को कोई नहीं मारता ! नेत्र-तंत्र में 'क्रोधो महिष उच्यते' क्रोध को महिष कहते हैं। क्रोध को मार कर बलि देना यही भैंसे ही बलि देना है। लेकिन लोग कहीं से भैंसा पकड़कर लाते हैं और उसे मार देते हैं। केवल हिन्दुस्तान में ही ऐसा होता हो, यह नहीं समझना। मुसलमानों में भी यही बात है। उनके आदि आचार्य को देववाणी सुनायी दी कि 'जो तुम्हें अत्यंत प्रिय पदार्थ हो, वह मुझे अर्पण करो।' मनुष्य को

अत्यंत प्रिय पदार्थ अहंता होती है। देववाणी ने यही सोचा होगा कि यह अहंता का बलिदान करेगा। लेकिन उसे एक भेड़ बड़ी अच्छी लगती थी, उसे पकड़ कर मार दिया ! उसी के अनुकूल आचरण करते हुए आजकल लोग कोई भेड़, कोई गाय तो कोई बकरा मारते हैं। ऐसा संसार में सर्वत्र होता है। इसलिये तमोगुणी की पूजा का उद्देश्य भी दूसरे को पीडा देना है और जिस सामग्री का वह उपयोग करता है, वह भी पीडा देने वाली है।

'दम्भं कृत्वा पुरस्सरं' वह हमेशा सामने दम्भ रखता है। भगवान् भाष्यकार दम्भ का अर्थ करते हैं 'दम्भो नाम धर्मध्वजता' 'सब लोग मुझे धर्मात्मा समझें', यह धर्मध्वजता दम्भ है। आचार्य नीलकंठ लिखते हैं कि यदि वह गंगा-तट पर बैठकर सन्ध्या करता है तो लम्बे समय तक, और अकेले कमरे में बैठकर करता है तो पाँच मिनट में ही ख़त्म कर देता है। क्योंकि गंगा के किनारे सब लोग आकर देखेंगे कि 'बड़े लम्बे समय तक पूजा-पाठ करते हैं'। अधिकतर लोगों में धर्मध्वजता का भाव है, धर्म का भाव नहीं है, धर्म को ध्वज बनाते हैं। आजकल यह धर्मध्वजता राजनीतिज्ञों ने ले रखी है। इसलिये धर्म का झण्डा अपने-अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिये फहराते हैं। जो कहते हैं कि हमें हिन्दू राष्ट्र स्थापित करना है, उनके घर टेलीफोन करो तो सवेरे सात बजे तक सोये पड़े हैं ! बाहर जाकर नारा लगाते हैं कि 'हमें हिन्दू राष्ट्र कायम करना है।' खाने-पीने का तो मामला ही जाने दो। यह धर्मध्वजता अर्थात् धर्म का झण्डा लगा रखा है कि सब लोग मुझे धर्मात्मा समझें। इसी प्रकार तामसी पूजक इसलिये पूजा करता है कि 'सब लोग समझें कि मैं पूजा कर रहा हूँ।'

'मात्सर्यक्रोधयुक्तो यः।' दूसरे के गुणों के अन्दर दोष-दर्शन करना मात्सर्य है। हम लोगों में मात्सर्य पूर्ण वृत्ति को प्राप्त किये हुए है। भारतवर्ष में राष्ट्रपति से लेकर अदने आदमी तक सब बुरे हैं, केवल मुझे छोड़कर ! बड़े-से-बड़े पुरुष के ऊपर चरित्र का, लोभ और घूस का लांछन लगाते हमें एक मिनट नहीं लगता। किसी की बुराई सुनकर हमें इतनी प्रसन्नता होती है कि हमारा चित्त ऐसा खिल जाता है कि हज़ार रुपये मिलें तो भी इतनी खुशी नहीं हो; और यदि किसी की अच्छाई सुनें तो दिल विश्वास नहीं मानता, 'दूसरा अच्छा हो कैसे सकता है ?'

फ्रांस की एक औरत ने 'व्हिदर इण्डिया' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने यहाँ की कई ऐसी घटनायें बताई हैं। एक घटना बताती है कि जब नेहरू जी मर गये और उनका इच्छापत्र (वसीयत) प्रकाशित हुआ तो उसमें लिखा था कि जितने गहने हैं, वह उनकी लड़की इन्दिरा को मिलेंगे। भारतवर्ष में बड़ा हल्ला मचा कि सन् ६२ की लड़ाई में उन्होंने बाकी सबका सोना सरकार को दिलाया और खुद अपने घर का इतना सोना दबाये रखा ! वह लिखती है कि 'मुझे यह बात कुछ जँची नहीं। मैंने वसीयत की नकल मंगाई और पढ़ी तो बात ठीक थी। फिर भी मेरा माथा ठनकता रहा कि नेहरू जी के जीवन के साथ यह घटना मेल खाती नहीं। हिन्दुस्तान में तो सब लोगों ने इसे ठीक मान लिया क्योंकि हमें ऐसी बात मानने में बड़ी प्रसन्नता होती है। वह कहती है कि 'उसके दो साल बाद मैं जब इंग्लैण्ड गई हुई थी तो किसी के साथ बातचीत हुई। वहाँ के पत्रों में भी पूरी वसीयत छपी थी। उसमें उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि वह वसीयत सन् ५६ में

लिखी थी। सन् ६२ में चीन की लड़ाई में उन्होंने सारा सोना दे दिया था। जब वसीयत लिखी थी तब सोना उनके पास था और लिखा भी था कि इन्दिरा को सोना दे देना। सन् ६२ के बाद वसीयत बदलने का फिर मौका नहीं मिला। जब उसे पता लगा तब उसने भारत के राजदूत आदि से कहा तो वे कहने लगे कि 'ऐसा ही होगा। हमने ध्यान नहीं दिया।' वह कहती है कि 'भारतवर्ष में इतनी ज़्यादा बुराई बढ़ने का मूल कारण यह है कि यहाँ की जनता भले को भी बुरा देखना चाहती है।'

जिस प्रकार हमारे राज्य करने वाले अच्छे-से-अच्छे व्यापारी को चोर मानते हैं, इसलिये अच्छा व्यापारी भी चोर बनने में प्रवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार हमारे अच्छे व्यापारी अच्छे अफसर को घूसखोर मानते हैं तो वह घूसखोर बनने में प्रवृत्त हो जाता है। चूँकि प्रजा नेताओं पर अविश्वास करना चाहती है, इसलिये वे भी कहते हैं कि फिर अविश्वास का ही काम करो ! इससे पहले बताया था कि कैसे प्रतियोगिता चलती है। कभी अनुभव करो : नौकर के हाथ में कार्यभार दे दो तो देखोगे कि अच्छी तरह से सारा कार्य करेगा और जितनी निगरानी करोगे, उतना काम खराब करेगा। जब मनुष्य के ऊपर विश्वास करोगे तो जैसा पहले ही बताया कि सौ में पाँच ऐसे भी निकलेंगे जो खराब होंगे, लेकिन सौ पर विश्वास करोगे तो पाँच ही विश्वासघात करेंगे और सौ पर अविश्वास करोगे तो पिच्यानबे विश्वासघात करेंगे, वैसी ही प्रवृत्ति बनती है। निरंतर दूसरे में दोष देखना मात्सर्य है। बैठे-बैठे विद्यार्थी अध्यापक की, और अध्यापक विद्यार्थी की बुराई करते हैं, बड़ी उमर वाले बच्चों की और बच्चे बड़ों की बुराई करते हैं,

औरतें आदमियों की और आदमी औरतों की बुराई करते हैं, यह हमारा स्वभाव बन गया है। ऐसा व्यक्ति जो पूजा करेगा, वह तामसी पूजा होगी।

क्रोध का स्वरूप है कि 'जो मेरे प्रतिकूल करे, उसे मैं खत्म कर दूँ।' 'हर व्यक्ति मेरे मन के अनुकूल बने' यह क्रोध का बीज है। परपीडा के उद्देश्य से दंभ को करते हुए मात्सर्य और क्रोध अपने हृदय में रखने वाले पूजक की पूजा तामसी होगी।

जैसी पूजा होगी, वैसा ही उसके फल को होना हुआ। तमोगुण का फल है 'प्रमादालस्यनिद्रादि' प्रमाद, आलस्य और निद्रा यही तमोगुण का कार्य है। तमोगुण की पूजा करने वाले में ये तीनों बढ़ेंगे। 'प्रमादोऽनवधानता'। किसी भी चीज में ध्यान ठीक न होना प्रमाद है। ऐसा व्यक्ति किसी भी चीज के अन्दर ठीक प्रकार से एकाग्र वृत्ति नहीं रख सकेगा, उसमें सावधानता नहीं रहेगी। इतना ही नहीं, प्रमाद हटने के लिये जो चिन्तन, मनन और शास्त्रविचार है, उसके प्रति उसमें आलस्य आयेगा। वह सोचेगा कि 'मैं जितना जानता हूँ, उतना पर्याप्त है, और सब देखकर क्या करना।' जिस व्यक्ति में प्रमाद होगा, वही आलसी बनेगा। नास्तिक आलसी होता है। यदि वह शास्त्र-चिंतन और शास्त्रानुकूल साधन करे और करने के बाद कहे कि 'मेंने बीस साल तक यह साधन किया और मुझे चूँकि इस साधन से कोई फल नहीं हुआ, इसलिये में ईश्वर को नहीं मानता।' तब ऐसे नास्तिक को ठीक कहेंगे। लेकिन ऐसा कोई नहीं मिलता। वह कोरी बातों से ईश्वर को सिद्ध और असिद्ध करना चाहता है। जैसे हमारे देश के अन्दर हम गरीब को कोरी बातों से ही अमीर बनाना चाहते हैं। एक दिन लोकसभा में बैठकर

प्रस्ताव पास कर देंगे कि 'आज से कोई गरीब नहीं रहा।' सार्वभौम सत्ता सम्पन्न लोकसभा की बात को कैसे काट सकते हो ! गरीबी गई ! लोग कहते हैं कि खाने को नहीं मिलता और चुने हुए लोग कहते हैं कि कोई गरीब नहीं रहा। अब उनकी बात मानें या तुम्हारी बात मानें ? जैसे बातों से हम यह करना चाहते हैं, वैसे ही हम केवल बातों से ईश्वर को सिद्ध और असिद्ध करना चाहते हैं। नास्तिक आलसी होता है, वह शास्त्रों का चिंतन, मनन, निदिध्यासन नहीं करता। यदि ईश्वर को माने तो कुछ करना पड़े, इसलिये सोचता है कि यह बिना किये ही ठीक है। तमोगुण का पहला फल प्रमाद होगा।

प्रमाद से आलस्य आयेगा। जैसे-जैसे आलस्य बढ़ेगा, वैसे-वैसे वह निद्रा की तरफ जायेगा। केवल बिस्तर पर सोना ही निद्रा का मतलब वेदांत शास्त्र में नहीं है। भगवान् गौडपादाचार्य माण्डूक्य कारिका में लिखते हैं 'अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः' निद्रा का मतलब तत्त्व का अज्ञान है। उस परमात्म-तत्त्व को, संवित् को न जानना ही निद्रा है। तामसी पूजा से पहले प्रमाद बढ़ेगा। प्रमाद बढ़ने पर आलस्य बढ़ेगा। आलस्य बढ़ने पर अज्ञान और ज़्यादा बढ़ जायेगा। परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति से यह घटता जायेगा। बहुत से लोगों में देखा होगा कि जब कोई आपत्ति आई हुई हो तब खूब पूजा-पाठ चलता है, सत्संग में आते हैं और जब आपत्ति हट गई तब फिर उनको समय नहीं रहता है। यह उनका दोष नहीं है क्योंकि उनकी पूजा पहले ही मात्सर्य, क्रोध आदि गुणों से युक्त थी। वहाँ प्रमाद, आलस्य और निद्रा एक के बाद एक आयेगा। कुछ लोग पूजा करते हुए कहते हैं

कि 'ये बड़ी-बड़ी बातें, परमात्मा की बात, मोक्ष-चिन्तन, तत्त्व-चिंतन कुछ नहीं है। असल में तो जो चाहिये उस पदार्थ को प्राप्त करने के लिये पूजा करो, वह पदार्थ प्राप्त हो जाता है।' वह भी पूजा है। तमोगुणी की पूजा की सामग्री तमोगुणी, अंतःकरण तमोगुणी, उद्देश्य तमोगुणी है इसलिये उसका फल भी तमोगुणी है। यही तामस पूजा है।

'परपीडा विरहितः स्वकल्याणार्थमेव च।' जो राजस पूजा करता है उसके अन्दर परपीडा की भावना कभी नहीं होती। दूसरे को पीडा देना उसका उद्देश्य नहीं है। अपना लाभ और अपना कल्याण तो वह चाहता है लेकिन दूसरे के प्रति उसको मात्सर्य आदि नहीं होते। संसार के अन्दर देखते हैं कि भाई से झगड़ा हो गया तो तामसी पुरुष कहता है कि 'चाहे मैं बर्बाद हो जाऊँ, लेकिन उसको भी सड़क पर खड़ा न कर दूँ तो मेरा नाम नहीं।' राजसी होता है तो कहता है कि 'मुझे अपना हिस्सा मिल जाये, मुकद्दमे में जो दस-बीस हज़ार खर्च होंगे, वह भाई ले जाये तो कुछ हर्जा नहीं।' इसी प्रकार से पूजा में समझना : क्योंकि जो-जो अपने अंतःकरण की दृष्टि होगी तदनुकूल ही पूज्य के ऊपर भी छाया पड़ती जायेगी, यह वेदांत का सिद्धान्त याद रखना। क्या सूर्य को बादल ढकता है ? बादल तो आँख को ढकता है। मील भर का बादल लाखों मील बड़े सूर्य को कैसे ढक सकता है ? हस्तामलकाचार्य कहते हैं कि बादल से ढकती तो आँख है लेकिन मानते हैं कि सूर्य ढका है। इसी प्रकार तमोगुण आदि के द्वारा आच्छन्न तुम्हारी आँख होती है लेकिन तुम्हें दीखता ऐसा नहीं है। राजस पूजा वाले की दृष्टि पर रजोगुण है, इसलिये वह अपना

कल्याण करने की दृष्टि से तो पूजन करता है, लेकिन परपीडा की दृष्टि से नहीं करता। अपने कल्याण का कार्य कौन-सा है? कहते हैं—'नित्यं सकामं हृदयं यशोऽर्थी भोगलोलुपः' उसके हृदय में हर क्षण कोई-न-कोई कामना बुदबुदाती है कि 'यह मिले, यह मिले।' तमोगुणी में तो यह इच्छा है कि 'दूसरे को न मिले', रजोगुणी में यह इच्छा नहीं है, लेकिन 'मुझे यह मिले' ऐसी कामना बनी रहती है।

उसके हृदय में हमेशा यश (कीर्ति) की इच्छा बनी रहती है। दम्भ और यश की इच्छा में फर्क है। दंभ तो बिना धर्म किये हुए धर्मध्वजता है, और यश की इच्छा वाला दान-पुण्य करता है, अन्य कार्य करता है लेकिन चाहता है कि इनके पीछे यश मिले। यह दम्भ और यश में फर्क है। जो बिना कुछ किये ही चाहता है, वह दंभी है और यश के कार्य करके जो यश चाहता है वह राजसी है। उसको हमेशा ही भोग की इच्छा बनी रहती है। सारे ही भोग, रूप, रस, गंध, शब्द स्पर्श सारे भोगों की इच्छा रहती है। इसलिये उसकी पूजा उन-उन फलों की प्राप्ति के लिये है। पुत्र की इच्छा हुई तो पुत्रकामेष्टि, धन की इच्छा हुई तो श्रीसूक्त का हवन करो। तामसी पूजा वाले में अतिभक्ति नहीं, काम चलाऊ भक्ति है। इसलिए उसका यदि कार्य पूरा नहीं होता है तो उसकी भक्ति ढीली पड़ जाती है। रजोगुणी में यह बात नहीं है। वह उस संवित् की अतिभक्ति (उपासना) करता है, फल न मिले तब भी उसके प्रेम में कमी नहीं आती। यह प्रेम में कमी न आना ही उसे तमोगुणी भक्ति से सर्वथा अलग कर देता है। अनेक बार जीवन में इसी प्रकार की परिस्थितियाँ आती हैं। कारण यह है कि जैसे उपासना

का राज्य चलता है, वैसे ही प्रारब्ध का राज्य भी चलता है। यह थोड़ी कठिन बात है।

जैसे शरीर का राज्य है, ऐसे ही मन का राज्य है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। साधारण आदमी के शरीर और मन में सर्वथा तादात्म्य होता है। शरीर में रोग हुआ तो मन दुःख से भर जाता है। सामान्य प्राणी का मन सब काल में शरीराधीन है। शरीर को थोड़ा सुख हुआ तो मन को भी सुख हो गया। जैसे-जैसे मन का राज्य आगे बढ़ेगा, वैसे ही शरीर और मन के राज्य में भेद आने लगेगा। मान लो कोई व्यक्ति संगीत का प्रेमी है। उसके घुटने में बड़े ज़ोर का दर्द हो रहा है। शरीर में दर्द है लेकिन उस समय ओंकारनाथ ठाकुर कहीं से आ गये। उन्होंने उसे संगीत सुनाना शुरू कर दिया तो उसके उस समय देह के अन्दर होने वाला दर्द पीडा नहीं देगा। वह दर्द कहीं जायेगा नहीं, लेकिन चूँकि उसका मन परिष्कृत है, इसलिये देह में पीडा होते हुए भी मन उससे अलग हो जायेगा। मन सुख का अनुभव करने लगेगा। जब संगीत बंद हो जायेगा तब वह दर्द पीडा देता ही है। लेकिन जो संगीत से अत्यंत अनभिज्ञ है, उस कृषक के आगे संगीत सुनाना 'भैंस के आगे बीन बजाये भैंस खड़ी पगुराय' वाली बात होगी। अथवा दूसरे दृष्टांत से समझ लो। किसी के सामने तत्त्व का विचार चलाओ तो उसे झोंके आने लगते हैं। उसका दोष नहीं है, क्योंकि वह तत्त्व की दृष्टि को समझता नहीं है। अथवा वेदांत सुनते समय माला खटकाने लगेगा, फिर कहानी आयेगी कि 'एक था राजा' तो माला रख देगा क्योंकि उसके मतलब की बात आ गई। उसका कसूर नहीं है। जैसे-जैसे मन सूक्ष्म सूक्ष्मतर पदार्थों में जाने लगेगा,

वैसे-वैसे देह और मन के तादात्म्य में कमी आने लगेगी क्योंकि मन का क्षेत्र अलग चलेगा और शरीर का क्षेत्र अलग चलेगा।

शरीर के भोगों में प्रारब्ध प्रधान रूप से चलेगा, मन के भोगों में उपासना का राज्य (मनोराज्य) प्रधान हो जायेगा। इनमें सुख-दुःख दोनों समझ लेना। जैसे साधारण गाँव का आदमी तो होली में खुश होता है, लड़की के ब्याह में पाँच सौ रुपया कर्ज़ा लेकर सुखी हो रहा है; शरीर के अन्दर दुःख तो दुःखी और सुख तो सुखी होता है। इसी प्रकार वह होली में या कर्ज़ा लेकर भी ब्याह में सब फूँक देता है, दस महीने बाद क्या होगा, यह उसे चिन्ता नहीं है। मनोराज्य अच्छा बुरा दोनों होता है। सेठ बढ़िया सुन्दर वातानुकूल शाला में बैठा है, बढ़िया टेलीफोन लगा हुआ है, घरवाली गरम-गरम पकोड़े ला रही है क्योंकि सेठ लोग पकोड़े ही खाते हैं, मीठा उनसे नहीं खाया जाता। लेकिन सेठ का चेहरा उतरा हुआ है क्योंकि पूर्वी बंगाल में पटसन का सारा माल जलाया जा रहा है, 'इस साल पटसन के कारोबार का क्या बनेगा' इसी चिंता में है। इस समय होने वाला सुख देह में हो रहा है, लेकिन मन में नहीं है। इसलिये यह नहीं समझना कि मनोराज्य में जाने वाले को सुख ही ज़्यादा मिलता है, दुःख भी मिल सकता है। लेकिन इतना जरूर है कि उसके शरीर और मन के सम्बन्धों में भेद आ जाता है। शरीर के राज्य में प्रारब्ध प्रधान होगा और मन के राज्य में प्रधान उपासना होगी। मन के राज्य में तुम्हारी स्वतंत्रता अधिक, परतंत्रता कम है। शरीर के राज्य में तुम्हारी स्वतंत्रता कम और परतंत्रता अधिक है।

पंचदशीकार का एक प्रसिद्ध दृष्टांत है 'परिव्राट्-कामुक-शुनाम्

एकस्यां प्रमदातनौ' एक ही स्त्री का शरीर खड़ा है, पाँच फुट चार इंच का, गोरे रंग का, एक सौ बीस पौण्ड का वह शरीर है, इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। यह तो सबको दीख रहा है। स्त्री का शरीर दीख रहा है, इसमें प्रारब्ध प्रधान है। मनोराज्य में एक परिव्राजक संन्यासी खड़ा हुआ है, उसको उसमें उपेक्ष्य दृष्टि है। एक कामुक व्यक्ति भी खड़ा है, उसको उसी स्त्री शरीर में भोग्य दृष्टि है कि 'कितनी सुन्दर है, बीवी बने तो अच्छा है।' एक कुत्ता भी खड़ा देख रहा है कि 'इसकी पिण्डली का मांस बड़ा स्वादिष्ट है, मुँह मारने को मिल जाये।' देहज्ञान में तीनों परतंत्र हैं। तीनों को वह शरीर एक जैसा दीखता है। ऐसा नहीं कि एक को गोरी, दूसरे को काली अथवा एक को नाटी और दूसरे को लम्बी दीखे। लेकिन मनोराज्य का भेद है। जितना-जितना शरीर और उपासना के राज्यों में भेद आयेगा, उतना-उतना मनुष्य की प्रतीति होगी मानो यह शरीर मेरी परीक्षा ले रहा है। मन जिस समय समाधि में जाना चाहता है, शरीर उसी समय सिरदर्द में जाना चाहता है ! अब दोनों में विरोध आयेगा। कभी सिरदर्द जीत जायेगा और कभी समाधि जीत जायेगी।

मदुरा के अन्दर श्रीपति नाम का एक ब्राह्मण था। वह ब्राह्मण भगवती का परम भक्त था। अपनी सभी कामनाओं की पूर्ति भगवती से ही कर लेता था। उसकी पत्नी और बच्चे भी उसके प्रभाव से परमात्मा के भक्त थे। एक बार एक स्त्री उसके घर आई और कहने लगी 'मेरा कोई सहारा नहीं है।' उन्होंने उसे रख लिया। कुछ ही दिन के बाद उनका लड़का मर गया। लोगों को तो जानते ही हो। अज्ञात कुल-शील वाली की कौन कहे, ब्याह

करके बेटे की बहू आये और कोई मर जाये तो कहते हैं कि 'डाकिन आकर लड़के को खा गई !' कुछ लोगों ने कहना शुरू किया कि 'यही तुम्हारे लड़के को खा गई है, इसे बाहर निकालो।' लेकिन श्रीपति दृढ था। उसका विचार था कि कोई किसी को दुःख कैसे दे सकता है ! पुत्र गया तो प्रारब्ध का कोई भोग आया होगा। उसके लिये इसे क्यों दोष दिया जाये ? उसकी मात्सर्य दृष्टि नहीं थी।

थोड़े दिनों के बाद उस देश का राजा उधर से निकला तो उसने कुछ दिन वहाँ अपना खेमा गाड़ा। दो-चार बार यह स्त्री भी उससे मिलने गई। जाते समय राजा ने उस ब्राह्मण की पत्नी को देख मुग्ध होकर उसे पकड़ मँगवाया और साथ ले गया। ब्राह्मण को दुःख हुआ। लोगों ने कहना शुरू किया कि 'यह भी इसी स्त्री की सीख है, इसी ने राजा को ऊटपटाँग समझाया होगा।' श्रीपति ने कहा कि 'ऐसी कोई बात मैंने नहीं देखी तो कैसे मान लूँ ? इस कारण से मैं इसे नहीं निकाल सकता।' कुछ इस दुःख के कारण और कुछ अन्य कारणों से धीरे-धीरे ब्राह्मण के पास का धन भी खत्म हो गया। फिर भी उसे जो कुछ मिले तो वह सोचे कि यह अनाथ स्त्री उसके आधार पर है, अतः उसे पहले खिलाये। लोगों ने उसे पहले डाकिनी, फिर कुट्टिनी (औरत को भगाने वाली) और फिर पिशाचिनी (धननाशिका) बताया। अंत में कहने लगे कि 'श्रीपति का उसके साथ कोई बुरा सम्बन्ध होगा, तभी उसके पीछे पड़ा रहता है।' अब यश भी गया। लेकिन श्रीपति अपने सिद्धान्त पर दृढ रहा कि उस निरपराध को दण्ड कैसे दूँ।

जब उसने इस नियम का त्याग नहीं किया तब वह स्त्री एक

दिन कहने लगी 'मेरे सामने आकर बैठ।' बैठा, तो वही स्त्री साक्षात् भगवती का रूप बन गई ! कहा 'ये जितने कष्ट थे, वे प्रारब्ध के अनुरूप भोगने थे। प्रारब्ध के कारण ही यश आता है और जाता है, धन भी आता है और जाता है क्योंकि वे बाह्य पदार्थ हैं। स्त्री और पुत्र भी उसी के कारण आते-जाते हैं लेकिन तू अपने धर्म पर दृढ रहा, इसलिये इन सारी कठिनाइयों में मैं तेरे साथ रही।' यह परीक्षा है। यह ज़रूरी नहीं है कि हर आदमी के सामने भगवती रूप लेकर ही आये। लेकिन जब विपत्ति आती है और अपने अत्यंत इष्ट पदार्थ जाने लगते हैं, उस समय यदि तुम्हारे अंतःकरण में निरंतर इस संवित् भगवती का प्रवाह बना रहे तो समझना चाहिये कि अतिभक्ति है। यदि यह भाव आने लगे कि 'इतना पूजा-पाठ किया, हुआ क्या'—तो समझना चाहिये कि तामसी भक्ति है, राजस भक्ति नहीं है। सात्त्विक भक्ति के प्रकार आगे बतायेंगे।

ॐ

प्रवचन-६

सूत संहिता के आधार पर भगवती की उपासना के प्रकार का विचार कर रहे हैं। तमोगुणी, रजोगुणी और सत्त्वगुणी उपासना, ये तीन बाह्य उपासनाओं के भेद हैं। इनमें से तमोगुणी और रजोगुणी उपासना का रूप बताया। तमोगुणी उपासना में प्रधानता दूसरे को पीडा देने की है। दंभ, मात्सर्य और क्रोध की उसमें प्रधानता है। रजोगुणी उपासना के अन्दर अपनी कामना-पूर्ति का उद्देश्य ही प्रधान होता है। उसमें यश और भोग की कामना प्रधान है। लेकिन रजोगुणी उपासक के अन्दर परमात्मा के प्रति भक्ति पूर्ण होती है, उसमें कमी नहीं। यहाँ तक विचार किया।

सत्त्वगुणी उपासना में क्या विशेषता है, इसे बताते हैं

परमेशार्पणं कर्म पापसंक्षालनाय च।

करोति प्रीतये कर्म भक्तिः सा नग सात्त्विकी।।

सात्त्विक उपासना का पहला लक्षण है जो न दूसरे की पीडा के लिये और न अपने लाभ के लिये वरन् परमेश्वर के लिये ही है। जब तक किसी दूसरे के प्रति हमारा भाव प्रधान हो, तब तक तमोगुण है। जो उपासना में है वही सारे व्यवहारों में समझना। वेदान्त शास्त्र के अन्दर जब-जब समष्टि का विवेचन आता है तब तब ईश्वर का विवेचन है। जब कभी हम किसी दूसरे के विषय में अधिक सोच रहे हों तब मन में तमोगुण का प्रभाव अधिक

है यह समझना चाहिये। पड़ोसी क्या कर रहा है, लोग क्या पहन रहे हैं, दूसरा क्या खा रहा है—इस प्रकार जब दूसरे के प्रति अपनी विचारधारा प्रधान हो तब समझना चाहिये कि तमोगुण प्रबल हो रहा है। जब स्वार्थ प्रधान होता जाये कि मुझे इहलोक या परलोक के भोग प्राप्त होवें अथवा मुझे मोक्ष प्राप्त हो—जब इस प्रकार स्वार्थ केन्द्र बने, तब समझना चाहिये कि रजोगुण प्रधान हो रहा है। रजोगुणी व्यक्ति हर चीज़ में केवल अपने को सोचता है कि मेरा क्या है, 'मैं' ही उसके विचार का केन्द्र बन जाता है। यह रजोगुण का लक्षण है। जब इन दोनों को छोड़कर प्रत्येक चिन्तन में परमेश्वर केन्द्र में रहे तब सत्त्वगुण है। इसके द्वारा परमेश्वर किस प्रकार संतुष्ट होंगे अथवा परमेश्वर की प्रसन्नता का यह कर्म है या नहीं—इस प्रकार जीवन में जैसे-जैसे परमेश्वर केन्द्र बनता जाये वैसे-वैसे सोचना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ रहा है। अतः दूसरे के विवेचन की प्रधानता होने पर तमोगुण, अपने स्वार्थ की प्रधानता होने पर रजोगुण और जब अपने और पराये का विचार छोड़कर परमेश्वर की तरफ दृष्टि प्रधान बने तब सत्त्वगुण है।

अर्पण का अर्थ देना होता है। वैसे तो प्रत्येक पूजा के अन्त में लोग बोल ही देते हैं 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' लेकिन वह अर्पण केवल बोलने का है क्योंकि उस सारे कर्म में भावना है कि कृष्णार्पण करने से और अधिक फल मिल जायेगा, इसलिये कृष्णार्पण बोल देते हैं। यदि वस्तुतः कृष्णार्पण की भावना होती तो आगे विचार ही नहीं उठता कि 'मैंने यह किया तो इसका क्या फल होगा ?'

'पाप संक्षालनाय च' यह सात्त्विक का उद्देश्य है, पापों के

धोने के लिये अथवा दूर करने के लिये ही उसके सारे कर्म हैं। पाप क्या है, प्रायः लोग समझते हैं कि कुछ ऐसी चीजें हैं जो मनुष्य को पापी बना देती हैं। लेकिन पाप का स्वरूप क्या है, यह नहीं जानते। वेदों का स्पष्ट उद्घोष यह है कि द्वैत-बुद्धि ही पाप है। एक अखण्ड चिन्मात्र के अन्दर 'मैं और तू' यह भेद उत्पन्न करना ही पाप है। महाभारत में बताया 'किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।' जिसने आत्मा का अपहरण कर लिया उस चोर ने कौन-सा पाप नहीं कर लिया ! द्वैत-बुद्धि ही सारे पापों का आधार है, यह याद रखना। कई बार यह प्रश्न उठता है कि पाप और पुण्य का निर्णायक क्या है ? बाकी जितने भी मत-मतांतर या मज़हब हैं वे पाप और पुण्य की एक सूची बनाकर दे देते हैं कि यह पाप और यह पुण्य है, आधार नहीं बता पाते। औपनिषद सिद्धान्त इसके आधार को बताता है। जो-जो भेद को बढ़ाये वह-वह पाप है और जो-जो एकता को लाये वह-वह पुण्य है। यह एक ऐसा आधार है जिसको लेने पर सारे पुण्य-पापों की व्यवस्था भी बन जाती है और एक दार्शनिक आधार भी मिल जाता है। चूँकि द्वैत-बुद्धि ही पाप है इसलिये पापों को धोने के लिये कर्म करते हैं अर्थात् द्वैत-बुद्धि को हटाकर अद्वैत-बुद्धि को उत्पन्न करने के लिये कर्म करते हैं।

सारे वैदिक कर्मों का असली उद्देश्य यही है। शुक्ल यजुर्वेद की बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट बताया 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।' सारे ब्राह्मण वेद-पाठ करते हैं, उसका उद्देश्य क्या ? परमात्मा के विषय में उनकी जानने की इच्छा उत्पन्न हो जाना ही वेद-पाठ का उद्देश्य

है। यदि सारे वेद पढ़ लिये और यह तत्त्व हाथ नहीं आया तो वैसे ही चूक गये जैसे काशी घूम आये और भगवान् विश्वनाथ का दर्शन नहीं किया ! यदि तुमने सारे वेदों को पढ़ लिया लेकिन परमात्म-तत्त्व की विविदिषा उत्पन्न नहीं हुई तो व्यर्थ हो गया। कहोगे कि यदि ऐसा है तो वेदों को पढ़ने से सबको जिज्ञासा उत्पन्न होनी चाहिये। लेकिन जो अविचारशील होते हैं, वे बीच की चीज़ों को देखते हुए उद्देश्य को भूल जाते हैं। रास्ते में जाते हुए जिस जगह को जाना था उसका ख्याल उनको नहीं रहता, रास्ते की चीज़ों को देखने में ही फँस जाते हैं। ऐसा देखने में आता है। इसी प्रकार वेद को बाँचते हुए उसके अन्दर जो प्रसंग से दूसरी चीज़ें आई हैं वे उनको ऐसा आकृष्ट कर लेती हैं कि सारे वेदों के द्वारा जिस तत्त्व को बताया है उसे भूल जाते हैं। 'वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः' गीता में भगवान् ने कहा कि सारे वेदों के द्वारा मुझको ही जानना। जानना उसे है। व्यास जी ने बताया 'तत्तु समन्वयात्' सारे ही वेदों का समन्वय ब्रह्म में है।

यदि वेदानुवचन के द्वारा उसे नहीं जान सको तो कहा 'यज्ञेन' यज्ञ से जानो। यहाँ यह नहीं कहा कि अमुक-अमुक यज्ञ से जानो, बल्कि सारे यज्ञों के द्वारा एकमात्र परमात्मा को ही जानना है। गीता में भगवान् ने कहा 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्म-बंधनः' यज्ञ को छोड़कर बाकी जितने कर्म हैं सब बन्धन में डालने वाले हैं। यज्ञ का मतलब सिर्फ होम नहीं समझ लेना। होम तो यज्ञ का एक प्रकार है। श्वास-प्रश्वास चल रहा है, रूपों का दर्शन हो रहा है, यह सब यज्ञ है। जो कुछ भी हो रहा है वह सब यज्ञ का प्रकार है। यदि यज्ञ की दृष्टि से किया जाये तब तो कर्म-

बन्धन को छुड़ायेगा और यदि यज्ञ की दृष्टि से नहीं किया जायेगा तो 'लोकोयं कर्मबन्धनः' कर्म बन्धन बनता जायेगा। मोटे उदाहरण से समझ लो कि यदि टैक्स पूरा देते जाओगे और 'नम्बर एक' का रुपया बढ़ाते जाओगे तो सुख और शान्ति मिलेगी। यदि टैक्स चोरी करते जाओगे और 'दो नम्बर' का रुपया बढ़ाते जाओगे तो अशान्ति तथा चिन्ता से ग्रस्त रहोगे। सौ रुपये का नोट बन्द हो जायेगा, इसकी चिन्ता उसको नहीं होगी जिसका 'एक नम्बर' का रुपया बैंक में पड़ा है। 'दो नम्बर' के रुपये वाले को ही चिन्ता होगी। इसी प्रकार यदि यहाँ यज्ञ की दृष्टि से कर्म करते जाओगे तब कर्म-बन्धन कटता जायेगा। यदि यज्ञ-दृष्टि नहीं रखोगे तो कर्म-बन्धन बढ़ता जायेगा।

'दानेन' दान के द्वारा भी ब्रह्म-विविदिषा, परमात्मा को जानने की इच्छा उत्पन्न होगी। तप के द्वारा भी ब्रह्म-विविदिषा उत्पन्न होगी। ये जितनी भी चीज़ें हैं, वे सब मनुष्य को कैसे करनी चाहिये —इसे बताने को श्रुति ने अंत में पद दे दिया 'अनाशकेन' कामना के परित्याग रूप से ही ये सब चीज़ें करे। 'अनाशकेन' यह सूत्र बता दिया। वैसे तो अशन का मतलब खाना होता है। इसलिये कुछ लोग ऐसा अर्थ करना चाहते हैं कि 'अनाशकेन' अर्थात् खाना छोड़ने से परमात्म-प्राप्ति हो जाती होगी ! भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर लिखते हैं भोजन का त्याग करोगे तो मृत्यु तो मिल सकती है, परमात्मा की प्राप्ति उससे नहीं होने वाली है। इसलिये कहते हैं कामना को छोड़ना ही अनशन है। यदि कामनाओं को नहीं छोड़ा तो भोजन-त्याग से कुछ नहीं होना है। भोजन-त्याग भी कामनाओं को छोड़ने के लिये कर सकते हो; जैसे जीभ को बहुत

स्वादिष्ट लगता है, इसलिये आलू खाना छोड़ दिया तो यह कामना को छोड़ना है। लेकिन बथुआ अच्छा नहीं लगता, उसी को खाना छोड़ा, तो वह अनशन या कामना का त्याग नहीं है। इसलिये यज्ञ, दान, तप इत्यादि यदि सब कामनाओं के परित्याग के लिये है तो वह अनशन है।

वेद का अध्ययन करोगे तो बाकी द्वैत बुद्धि बढ़ाने वाले उपन्यासों के पढ़ने का त्याग हो जायेगा। सामगान, सामवेद को सुनोगे तो आजकल का सामवेद जो हाथों में लिये घूमते रहते हैं (ट्रांज़िस्टर), उस बंधन से छूट जाओगे। जिस व्यक्ति को साहित्य पढ़ने की इच्छा भी है वह वेदाध्ययन करे, उसमें उसकी समग्र साहित्यिक कामनायें पूर्ण होंगी और आत्म-तत्त्व में स्थिति होगी। आचार्य पुष्पदंत लिखते हैं 'मधुस्फीता वाचः परमम् अमृतं निर्मितवतः' वेद की वाणी सुनने और समझने में मधु की तरह मीठी है। साहित्यिक दृष्टि से भी उसमें पूर्णता है और साथ में 'परम अमृत' मोक्ष पद को भी दे देगी। इसी दृष्टि से हमारे यहाँ पुराण इतिहास की रचना है। जो साहित्यिक नहीं हैं, केवल कहानियों में रुचि रखने वाले हैं, उनके लिये पुराण आदि की रचना है। उसे कांतासम्मत उपदेश बताया। औरतों को तत्त्व की बात बताने लगें तो माला खटकाने लगती हैं, लेकिन कोई कहानी सुनाओ तो बात बैठ जाती है। पुराणों के अन्दर उसी दृष्टि से उपदेश किया गया, उसे कांतासम्मत उपदेश कहा। गड़बड़ी इसीलिये हो जाती है कि पुराणों के पाठक भिन्न हैं। जैसे आजकल तुम्हारे बच्चों के पढ़ने की किताबें 'टार्ज़न, कामिक' आदि आती हैं उन्हें तुम पढ़ो तो बेवकूफी होगी, क्योंकि तुम्हारे लिये वे नहीं

लिखी गई हैं। जो विचारसरणी पर सोचना चाहें, वे उपनिषद्, वेद आदि का अध्ययन करें, जिनको वह कठिन पड़ता है, उनके लिये पुराण इतिहास इत्यादि की रचना है। तत्त्व एक है, उसमें कोई फर्क नहीं।

जिनको पढ़ने-लिखने की रुचि ही नहीं है, वे क्या करें ? बहुत से लोग ऐसे होते हैं कि कैसी भी किताब उनके सामने रखो तो उन्हें नींद आने लगती है। बहुत से लोग तो किताब लेकर सोने जाते हैं। उनसे पूछा ऐसा क्यों करते हो ? तो कहते हैं कि उन्हें किताब पढ़ने में इतनी अरुचि है कि पढ़ने में ही नींद आती है, नहीं तो नींद नहीं आती। उनके लिये यज्ञ-साधन बताया अर्थात् क्रिया करें। यज्ञ रूपी क्रिया का मतलब है कि जो काम करो, वह परमेश्वर के लिये करो। यही यज्ञ का भाव है। यज्ञ में तीन चीज़ें होती हैं। यज्ञ का देवता हो, उसके उद्देश्य से द्रव्य का त्याग हो और मंत्रपूर्वक हो 'देवतोद्देश्येन मंत्रपूर्वको द्रव्यत्यागः।' कोई देवता सामने स्पष्ट होना चाहिये अर्थात् उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिये। कई व्यक्तियों के कार्य का उद्देश्य नहीं है, निरुद्देश्य कार्य है। भारतवर्ष में लड़के से पूछो 'स्कूल क्यों जाते हो ?' तो कहता है 'और क्या करें ?' उससे पूछो 'हाई स्कूल के बाद क्या कर रहे हो ?' तो कहता है कि 'एक फार्म इन्जिनियरिंग कालेज में, एक बी०एस०सी० में और एक मेडिकल कालेज में भरकर भेज दिया है, जहाँ लग जाये।' उद्देश्य क्या है—इसका कुछ पता नहीं। सोचा बच्चे को पता नहीं होगा तो बाप से पूछा कि क्या उद्देश्य सोच रखा है तो कहता है कि 'अर्जियाँ दे रखी हैं, अब जहाँ भी प्रवेश मिल जाये।'

अधिकतर लोगों से पूछो कि 'उद्देश्य क्या है' तो कुछ पता नहीं। दुकान क्यों खोली है ? कहते हैं धन कमाने के लिये। धन कमाकर क्या करोगे ? उद्देश्य क्या है ? कहते हैं—'स्वामी जी ! यही तो गृहस्थी है।' अर्थात् कमाने का उद्देश्य उन्हें पता नहीं है। गरीब है तो कहता है कि 'दुकान न करें तो रोटी कहाँ से खायेंगे', लेकिन जिसके पास बीस हज़ार रुपये हैं उसे पाँच सौ रुपये तो बैठे-बैठे ही मिल जायेंगे, इससे ज़्यादा रोटी नहीं खा सकते; उससे पूछो, 'दुकान क्यों जाते हो ?' तो उसे खुद ही पता नहीं। कमाकर बच्चों को दे जाओगे, उसका क्या उद्देश्य है ? वह भी पता नहीं। इसी प्रकार अधिकतर लोगों के जीवन का कोई उद्देश्य नहीं, निरुद्देश्य जीवन है। इसीलिये चित्त में शान्ति नहीं है। कोई उद्देश्य हो तो मनुष्य को पता लगे कि उद्देश्य के नज़दीक पहुँचे या नहीं। लेकिन जहाँ उद्देश्य कुछ है ही नहीं, उनसे पूछो कि पचास-साठ वर्ष के हो गये, पहुँचे कहाँ ? कहते हैं 'कहीं नहीं।' हम लोगों का चलन ऐसा है कि स्टेशन पर पहुँचकर टिकट माँगते हैं। पूछें 'कहाँ का दें ?' तो कहते हैं कि जहाँ का भी दे दो ! यज्ञ तब होगा जब हम जीवन के प्रत्येक कार्य का उद्देश्य निश्चित करेंगे। 'देवतोद्देश्येन' यदि हमने देवता को उद्देश्य बनाया तो वह यज्ञ हो गया। यदि हमने असुरता को उद्देश्य बनाया तो यज्ञ नहीं रहा। लेकिन पहले कुछ उद्देश्य बने तो सही।

यज्ञ का दूसरा अंग द्रव्यत्याग है। परमेश्वर की दृष्टि से, देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग होता है। बिना त्याग के यज्ञ नहीं होता। वस्तुतः संसार के पदार्थ भी बिना त्याग के नहीं मिलते। बंगाली मार्केट का बढ़िया रसगुल्ला वही खा सकता है जो जेब

के रुपये का त्याग करे। दस रुपये का नोट दिखाता रहे और दे नहीं तो खाने को नहीं मिल सकता। इसलिये संसार के पदार्थ भी त्याग से ही मिलते हैं। यदि त्याग नहीं हुआ तो संसार में भी दुःखी ही रहता है। पुत्र के प्रति यदि हम स्नेह का त्याग करेंगे, स्नेह देंगे तो पुत्र से स्नेह मिलेगा, नहीं तो कुछ नहीं मिलने वाला है। परमात्मा के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग हो तो यज्ञ होगा।

और वह त्याग मंत्रपूर्वक हो। जो मनन करने से हमारी रक्षा करे, वह मंत्र है। करते समय मनन होना चाहिये, तब यज्ञ होगा। हम समझते हैं कि अमुक चीज़ से अमुक चीज़ की प्राप्ति होगी; मनने करें कि हुई या नहीं। मान लो तुम्हें बुखार आ गया, कोई बुरी बात नहीं है, बुखार आना अच्छी बात है क्योंकि पता तो लगा कि बुखार होता है। लेकिन हमारे हृदय में चोट तब लगती है जब पूछते हैं कि 'बुखार कैसे आ गया' और कहते हैं 'पता नहीं।' तुम्हारे शरीर में बुखार घुस गया और तुम्हें ही पता नहीं, यह खतरे का मामला है। बुखार आना बुरा नहीं है, कैसे आया इसका पता होना चाहिये। इतना ही नहीं, थोड़े दिनों के बाद फिर बुखार आया। कहते हैं 'रिलैप्स' (relapse) हो गया। पूछा अच्छा, अब की बार ध्यान दिया होगा कि कैसे आ गया ? कहते हैं : 'अब भी पता नहीं !' प्रत्येक पदार्थ और उसके अंत में मनन हो। जो जागरूक होगा, वही देखेगा। किसी पहलवान ने दाँव मारा, तुम गिर गये तो अब तुमने वह दाँव सीख लिया। अब उस दाँव से तुम्हें आगे कोई नहीं गिरा सकेगा, तब तो गिरना फायदेमन्द हुआ। दूसरे दिन फिर यदि उसी दाँव से गिरे तो कुश्ती लड़ने से क्या फ़ायदा ? जैसे-जैसे मनन करते जाओगे, वैसे-वैसे संसार की

वास्तविकता का पता चलता जायेगा। संसार के यावत् पदार्थ दुःखरूप हैं, दुःख के सिवाय और कुछ भी देने में असमर्थ हैं, यही जानना है, और कुछ नहीं। तब कामना हट जायेगी। जो उस मार्ग का पथिक है वह वेदाध्ययन से ही कामनाओं को हटाता है। जो विचार आदि करने में अपने को असमर्थ अनुभव करे वह यदि कर्म करते हुए उद्देश्य को सामने स्पष्ट रखकर द्रव्य के त्याग पूर्वक मनन करता रहेगा तो भी उसके अन्दर ब्रह्मविविदिषा उत्पन्न हो जायेगी।

मनन करना पड़ता है, इससे भी लोग बहुत घबराते हैं। पूछो कि 'उद्देश्य क्या है' तो कहते हैं कि पता ही नहीं लगता। घूम-फिरकर एक ही उद्देश्य रह जाता है—पैसा कमाना। पूछो किस लिये कमाते हो ? तो कहते हैं कि 'यह हमें भी नहीं पता।' पुराने ज़माने में कुछ समझ में आता था क्योंकि लोग सोना इकट्ठा करते थे, वह देखने में सुन्दर तो है, इसलिये स्वर्ण को हिरण्य कहते हैं। अब तो कागज़ के नोट इकट्ठे करते हैं जो देखने में भी सुन्दर नहीं हैं ! इसलिये जो उद्देश्य भी स्पष्ट न कर सके, मनन भी न कर सके तो केवल बीच वाला हिस्सा उसके लिये बच गया 'द्रव्यत्याग।' तीसरा साधन बताया—दान। वैसे द्रव्यत्याग और दान में थोड़ा फर्क है। दान का मतलब होता है—'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं।' किसी चीज़ के ऊपर से पहले अपनी सत्ता हटाना, 'यह चीज़ मेरी है' यह अभिमान अपना स्वत्व है, उसे हटाना अर्थात् 'यह चीज़ मेरी नहीं है।' फिर 'परस्वत्वापादन' किसी दूसरे का स्वत्व उस पर लाना। ये दोनों हों तब दान होता है। मोटी भाषा में—'यह मकान मेरा है'—मकान पर से अपनी इस

सत्ता को हटाना पड़ेगा, कागज़ों पर से अपना नाम हटवाना पड़ेगा। लेकिन इतने से दान नहीं हो जायेगा। उस पर दूसरे का नाम चढ़वायें, तब दान होगा।

दान तब होगा जब पहले मकान तुम्हारे नाम है। किसी ने कहा, 'पंडित जी हम दान करना चाहते हैं', तो पंडित जी अपने आप ही कहीं से जल, अक्षत, पुष्प आदि ले आये कि इसका सत्संकल्प है तो अभी पूरा करें। वह कहता है कि 'मैं राष्ट्रपति भवन का दान करता हूँ।' अपना ही स्वत्व उस पर नहीं है, उसका दान कर रहा है ! कहोगे ऐसा कौन करेगा ? सच्ची बात बता दें, ऐसा लोग करते हैं : हमारे यहाँ काशी में सवा रुपये में गोदान होता है। किसी की गाय खड़ी कर देते हैं और सवा रुपये में कहते हैं कि गौ उनकी हो गई। लेकिन उस गाय पर तो यजमान की सत्ता नहीं थी ! दान कैसे कर दिया ? कहोगे कि 'हम दिल्ली वाले तो ऐसा नहीं करते।' तुम्हारी लीला भी बता दें, बुरा नहीं मानना। उत्सव आता है तो कहते हैं 'स्वामी जी ! यह रुपया लगा देना।' पूछते हैं, 'रसीद किस नाम से काटें ?' तो कहते हैं 'रसीद नहीं काटनी, गुप्त नाम से ही कर देना।' कारण यह है कि वह रुपया टैक्स देकर अभी तुम्हारा *अपना* बना नहीं है, 'नम्बर दो' वाला है, रसीद लेंगे तो पकड़े जायेंगे ! अपनी सत्ता अभी आई नहीं उसके पहले ही हमारी सत्ता का आपादन करवाते हो। आज से पचास वर्ष पूर्व दान करने के पहले मनुष्य सोचता था कि ठीक चीज़ का दान हो। अपने प्रयोग में वह कभी-कभी चोरी का रुपया भी लगा देता था लेकिन शुभ कर्म के लिये सोचता था कि ऐसा बीज बोयें कि आगे पुण्य हो। आज उससे ठीक

विपरीत दृष्टि है। जितना चोरी का धन है, वह सारा शुभ कर्मों में लगाना चाहते हैं। उसका फल कौन-सा उत्पन्न होगा ? जैसा बीज बोओगे, वैसा ही फल उत्पन्न होगा। नतीजा यह है कि अच्छे-से-अच्छे सत्संग करने वाले दानी पुरुष के यहाँ भी सुन्दर लड़का उत्पन्न होता है जो शराब पीता है और मांस खाता है। फिर लोग कहते हैं कि कैसा ज़माना आ गया। बच्चे क्या करें? तुमने जैसा बीज बोया वैसा ही फल होना है। पहले अपनी सत्ता को देखो कि है या नहीं।

स्वत्व-निवृत्ति का मतलब होता है कि अब उसके ऊपर अपना कोई अधिकार नहीं समझना। तब वह दान होता है। उसके बाद भी यदि अपनी सत्ता वैसी की वैसी बनाये रखते हैं तो दान नहीं। एक बार किसी जगह पर गये हुए थे, जिस धर्मशाला में ठहरे, वहाँ बड़ी भीड़ थी। साथ के सज्जन ने वहाँ के अधिकारी से कहा कि 'ऊपर का कमरा खाली है, क्यों नहीं खोलते ?' तो कहते हैं कि 'वह मालिक के लिये है।' धर्मशाला बन गई, लेकिन मिल्कियत नहीं गई, स्वस्वत्वनिवृत्ति नहीं हुई। अपनी सत्ता को रखते हुए किया तो दान नहीं हुआ। पहले अपनी सत्ता उस पदार्थ पर हो और फिर उस पर से अपनी सत्ता हटाई जाये अर्थात् फिर उसके अन्दर अपने मालिकपने की दृष्टि न रहे। हमारे यहाँ पुरानी औरतें कुछ अंशों में इसका रहस्य समझती हैं। क्या कारण है कि तुम लड़की का पैसा नहीं लेते ? क्योंकि कन्या का *दान* होता है। लेकिन आज स्थिति यह है कि यदि कन्या के घर का तुम्हारे यहाँ पचास हज़ार रुपया जमा है, बाज़ार में इस समय तुम तीस प्रतिशत का व्याज दे रहे हो पर वह बेचारी पढ़ी-लिखी नहीं इसलिये

उसे आठ प्रतिशत में ही टरका रहे हो ! नहीं सोचते कि बाईस प्रतिशत उसका खा रहे हो। हाँ ! उसके घर चाय नहीं पियोगे, लेकिन बाईस प्रतिशत की मलाई खाने में कोई दोष नहीं है ! कहते हैं, 'जी यह तो व्यापार है।' बड़े-बड़े लोग चेरिटेबल ट्रस्ट बनाते हैं। उसके रुपयों को उन्होंने फिर अपनी फर्म में लगा दिया। उस ट्रस्ट को उन्होंने आठ प्रतिशत ही ब्याज देना हुआ और उसके द्वारा खुद तीस प्रतिशत कमाना हुआ। तुमने दान दिया या बाईस प्रशित कमाने का साधन बनाया ? बुरा नहीं मानना, हमारा शास्त्र तो ज्ञापक है। लेकिन इसका नाम *दान* नहीं है। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक का अर्थ है कि अपनी सत्ता हो और फिर उसे हटाया जाये। जैसे लड़की पर सत्ता थी लेकिन अब लड़की के यहाँ का पानी भी नहीं पियेंगे।

केवल इतने से काम नहीं चलता है बल्कि 'परस्वत्वापादनं' दूसरे की सत्ता उसके ऊपर स्थिर करनी पड़ेगी। वह 'पर' जैसा पात्र होगा, तदनुकूल दान होगा। जितना वह 'पर' श्रेष्ठ होगा उतना ही दान श्रेष्ठ है। यही दान और दया में फर्क है। दया अपने से नीचे वाले पर की जाती है और दान अपने से ऊपर वाले को दिया जाता है। कन्या दान करते हो तो घर में वर के आने पर उसके पैर पूजते हो क्योंकि वह तुमसे बड़ा है। इसलिये दान का पात्र ब्राह्मण है, कोढ़ी नहीं। उनको भी देना चाहिये लेकिन वह दया है। जितना-जितना पात्र श्रेष्ठ होता है उतना-उतना दान उत्तम माना जायेगा। दया भी धर्म है, दान भी धर्म है। दोनों करने चाहिये लेकिंन दोनों के दृष्टिकोण अलग हैं।

दान का चरम लक्ष्य क्या है ? हमारे शरीर आदि के ऊपर

हमारी अपनी सत्ता बनी है, यह स्वस्वत्व है। देह, प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय और तत्सम्बन्धी जितने पदार्थ हैं, उनके ऊपर मेरी सत्ता है, उसको हटाना 'स्वस्वत्वनिवृत्ति' है कि 'यह शरीर मेरा नहीं।' वह धर्मशाला वाला मामला नहीं कि 'शरीर तो मैं नहीं, लेकिन करना तो मुझे इसके लिये सब कुछ है !' दूसरी जगह शास्त्र में बताया है कि जैसे वृक्ष का पत्ता उड़ जाता है ऐसे अलग हो जाये। अन्यत्र सामवेद की छांदोग्योपनिषद् में बताया कि जिस प्रकार साँप ने केंचुली को छोड़ दिया, अब केंचुली का कुछ भी होता रहे, इससे साँप को कोई मतलब नहीं ऐसे देह से भाव हटना—यह सत्ता को हटाना है। सबसे श्रेष्ठ परमात्मा है। अपने शरीर पर ईश्वर की सत्ता का आपादन करे कि 'मेरा शरीर प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि और तत्सम्बन्धी सब आज से परमेश्वर के हैं, वह जो चाहे सो इनसे कराये। यदि बड़े से बड़ा रोग इसको देना चाहे तो दे, मैं तो दान कर चुका। बड़ी-से-बड़ी राजगद्दी पर बैठाना चाहे तो बैठाये, मैं तो दान कर चुका। बड़े-से-बड़े पद की प्राप्ति से ईश्वर का गौरव बढ़ेगा, मेरा नहीं क्योंकि मैं तो दे चुका। बड़े-से-बड़े अपमान से भी मेरा कुछ नहीं क्योंकि मैं तो दे चुका।' यह दान है। पहले शरीर सम्बन्धी चीज़ों को छोड़ना सीखोगे तो एक दिन वहाँ भी पहुँच जाओगे।

ऋभु और निदाघ की कथा आती है। निदाघ अपने पिता के घर में रहकर पढ़ते रहते थे। एक बार महर्षि ऋभु उधर से निकले। स्वाभाविक होता है कि लड़का पढ़ने में तेज़ हो तो किसी के आने पर कहते हैं कि 'सुनाओ।' महर्षि सामने आये तो पिता ने निदाघ से कहा 'इनके सामने कुछ सुनाओ।' महर्षि ने उससे मीमांसा

शास्त्र के सुन्दर विचारों को सुना तो प्रसन्न हुए। आत्मज्ञानी प्रसन्न होगा तो कुछ-न-कुछ माँगेगा ! दूसरे तो प्रसन्न होकर देते हैं, आत्मज्ञानी प्रसन्न हो जाये तो माँगता है। उन्होंने निदाघ के पिता से कहा 'यह लड़का मुझे दे दो। इसे मैं ले जाऊँगा।' पिता ने कहा—'ज़रूर ले जाइये, मैं तो मना नहीं करूँगा क्योंकि आपने कह दिया। लेकिन इतना ख़्याल रखियेगा कि यह मेरा एक ही पुत्र है और कोई मेरा वंश चलाने वाला नहीं है।'

निदाघ को लेकर महर्षि चले गये। आश्रम में रखा और उसे आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया। उसका अंतःकरण शुद्ध था, वेदाध्ययन किये हुए था, बचपन का समय था। आचार्य नीलकंठ लिखते हैं कि आत्मज्ञान वहाँ पूर्ण होता है जहाँ कुमारावस्था खत्म हुई हो। वृद्धावस्था में बड़ा मुश्किल है क्योंकि नींद आती रहती है, विषयों का स्मरण, बीवी बच्चों का स्मरण आता रहता है ! वहाँ तो इसी स्मरण के मारे मुसीबत है। इसलिये ज्ञान के अनुकूल समय आचार्य नीलकंठ ने बताया 'कौमारान्ते वयसि' यौवनावस्था में प्रवेश हो और उससे पूर्व किसी प्रकार से दुःख का अनुभव न किया हो। दुःखी पुरुष परमात्मा में निष्ठा वाला नहीं बन पाता, क्योंकि वह दुःख अंदर-ही-अंदर खाता रहता है। मध्यकाल में लोगों का यह कहना कि दुःख से वैराग्य होता है, ठीक नहीं। दुःख से वैराग्य नहीं होता, वह तो कच्चा वैराग्य अथवा श्मशान का वैराग्य होता है। इसलिये 'कथमप्यप्रवृत्ते च दुःखे' किसी प्रकार से दुःख का अनुभव भी न किया हो । यही निदाघ का हाल था। जैसे-जैसे तत्त्व का उपदेश किया, वह स्थिर हो गया।

उसने महर्षि से कहा—'महाराज ! मेरी तो यही इच्छा है कि

मैं संन्यास लेकर सर्वथा आत्मनिष्ठा में रहूँ।' महर्षि ने कहा—'ठीक है लेकिन तेरे पिता ने एक बात कह दी थी। मैंने तुझे यह विद्या रत्न दिया, अब वंश-परम्परा का ख्याल करते हुए तू विवाह कर ले।' उसने बहुत मना किया तो अंत में ऋभु ने कहा—'मैंने तुझे विद्या का उपदेश दिया तो यही मेरी दक्षिणा है कि घर जाकर विवाह करो और पितृ-ऋण से उऋण हो।' वैसे आत्मज्ञानी को कोई पितृ-ऋण नहीं। निदाघ ने कहा कि 'संसार दावाग्नि में क्या रूप बने, कोई ठिकाना नहीं, इसलिये आप भुलाना नहीं।' ऋभु हँसे। सत्पुरुषों की सप्तपदी मैत्री होती है। उनके साथ सात पैर चले तो मित्रता हो जाती है। यह भारत की संस्कृति है। विदेशों की संस्कृति कुछ और है। रूसका प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव था। उसी का गृहमंत्री बेरिया था। ख्रुश्चेव ने खुद लिखा है कि 'मैं चाहता था कि किसी तरह बेरिया को हटा दूँ।' वह बराबरी का था। एक दिन बेरिया अकेला ही ख्रुश्चेव से मिलने चला गया, ख्रुश्चेव भी उस समय अकेले थे। कहते हैं, 'मैंने सोचा कि आज अच्छा मौका है, मैंने दराज़ खोली, पिस्तौल निकाली और उसे मार दिया।' यह विदेशी संस्कृति है। वहाँ चाहे रात-दिन साथ खाने वाले हों तब भी बाहर से जहर दे दो तो कोई हरजा नहीं। उन देशों को आज हम आदर्श माने बैठे हैं कि वे बड़े अच्छे देश हैं। सत्पुरुष के साथ सात पैर चले, तभी मित्रता है, यह भारतीय संस्कृति है।

महर्षि ऋभु ने कहा—'घबरा नहीं।' निदाघ गया, विवाह हुआ। यह कर्म का स्वरूप है कि जैसे-जैसे प्रवृत्ति में फँसे, वैसे-वैसे स्मृतिभ्रंश होता चला जाता है। दिल्ली के चाँदनी चौक में बैठकर कितनी देर याद रहेगा कि संसार असत्य है ? यदि बद्रीनाथ की

उपत्यकाओं में बैठकर आत्मचिंतन करो तो स्थिति बने क्योंकि चारों तरफ का वातावरण अनुकूल रहेगा। लेकिन यहाँ तो संसार की सत्यता ही निरंतर आरूढ होती जायेगी। साल में तीन दिन हमारे मन्दिर में आना मुश्किल पड़ जाता है। वार्षिक उत्सव में आकर लोग कहते हैं कि 'तीन दिन ज़्यादा रखते हैं।' तीन सौ पैंसठ दिनों में तीन दिन आना मुश्किल है क्योंकि संसार की सत्यता हमें अभिभूत करती रहती है। ऋभु ने विचार किया कि निदाघ को उपदेश देना चाहिये।

एक बार राजा की बड़ी भारी सवारी निकल रही थी। निदाघ भी अपने बच्चों के साथ वहाँ गया हुआ था। ऋभु वहाँ पहुँचे। निदाघ से पूछा—'मैं बुड्ढा आदमी हूँ, बता यहाँ क्या हो रहा है?' निदाघ ने कहा—'दीखता नहीं ? राजा की सवारी निकल रही है।' ऋभु ने पूछा—'राजा कौन है ?' उसने कहा 'जो बड़े हाथी पर बैठकर जा रहा है, वह राजा है।' तब ऋभु ने कहा—'यह बात तो समझ में आ गई कि एक राजा है और एक हाथी है। लेकिन यह ऊपर नीचे क्या है ?' निदाघ को गुस्सा आया तो उस बुड्ढे के ऊपर चढ़कर कहा कि 'यह ऊपर नीचे होता है। अब मैं ऊपर और तुम मेरे नीचे हो।' ऋभु ने फिर कहा—'यह ठीक है कि मैं हाथी और तुम राजा पर 'मैं' कौन और 'तुम' कौन है, यह बताओ।' निदाघ को झट होश आया कि यह साधारण व्यक्ति नहीं ! देखा तो चरणों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा। तब ऋभु ने कहा—'युष्मद् अस्मद् का भेद भूल गया था !' निदाघ को होश आ गया। संस्कार तो थे ही, फिर से आत्म-विचार में लग गया।

ऋभु और निदाघ की ही नहीं, यह जीवमात्र की कथा है। निदाघ

गर्मी को कहते हैं 'नितरां दह्यते।' संसार में जो निरंतर तप रहा है, वह जीव ही निदाघ है। ऋभु में ऋ-ऋत् और भू-सत्तायां धातु है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक का मंत्र स्पष्ट कहता है—

'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म। पुरुषं कृष्णपिंगलम्
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः।'

ऋत् और सत्—अर्द्धनारीश्वर भगवान् शंकर का नाम है। उनका आधा शरीर काली का और आधा गौर वर्ण का है। तीन नेत्र हैं, वही फिर सारे जगत् के रूप को लिये हुए हैं। क्योंकि जो रूप देखो उसमें शिव-शक्ति, दृश्य-द्रष्टा, ज्ञाता-ज्ञेय दो ही तो हैं। अतः ऋभु ऋत्-सत्, उमासहित शंकर का नाम है। वे निरंतर भिन्न-भिन्न प्रकार से हमें उपदेश देते हैं। हम भूल जायें तो भी वे कभी नहीं भूलते। लेकिन ऐसा तभी होगा जब हम निदाघ बनें। जैसे निदाघ ने अपने को ऋभु के भरोसे छोड़ा था कि 'मैं भूल भी जाऊँ तो आप न भूलें।' निदाघ की तरह संसार के कार्य करें, सृष्टि में निरंतर प्रवेश करें लेकिन यह मानकर कि 'यह सब मैं उनकी आज्ञा से कर रहा हूँ, उनके लिये कर रहा हूँ।' यही दान है। देह आदि का दान उन्हें किया हुआ है तो किसी कारण से यदि वृत्ति गड़बड़ायेगी तो ईश्वरार्पण बुद्धि तुम्हारी रक्षा कर लेगी। सवारी निकलने वाला स्थल ही महाविक्षेप का स्थल माना जाता है। यह इसलिये कहा कि महान् विक्षेप के स्थल में भी ज्ञान उदय हो सकता है यदि मनुष्य का दान पूर्ण है। सारी साधना ब्रह्म-जिज्ञासा में समन्वित हो गई। द्वैतबुद्धिरूपी पापप्रक्षालन के लिये, कामनाओं के परित्याग के लिये यह सारी साधना आवश्यक है। भगवती कहती हैं—'हे पर्वतराज, हे नग ! यही सात्त्विकी भक्ति है।'

ॐ

प्रवचन-७

सूत संहिता के आधार पर भगवती की पूजा के प्रकार बता रहे हैं। पूजा के दो प्रकार बताये—बाह्य पूजा और आभ्यन्तर पूजा। बाह्य पूजा के फिर तीन भेद बताये—तामस पूजा, राजस पूजा और सात्त्विक पूजा। ये सारे भेद पूजक अथवा उपासक की दृष्टि से हैं : जैसा-जैसा उपासक, वैसी-वैसी वह उपास्य की तरफ दृष्टि करता है। इन उपासनाओं का स्वरूप क्या है ? उपासना के अन्दर दो चीज़ें हैं। सात्त्विक, राजस और तामस—ये उपाधियाँ हैं। इन उपाधियों वाला जो चेतन है, वही उपास्य तत्त्व है। इस तरह एक उपाधि और दूसरा चेतन है। जब उपासना करोगे तब उपाधि और उपाधि वाला दोनों होंगे। उपाधिवाले को संस्कृत में उपहित कहते हैं। उपाधि और उपहित दोनों साथ ही रहेंगे। चेतन वाला जो अंश है, वह अपरिवर्तित रहता है, अर्थात् एक जैसा रहता है, उसमें कोई भेद नहीं होता। उपाधियाँ बदलती रहती हैं, दो उपाधियाँ कभी एक जैसी नहीं होतीं।

यह थोड़ा दार्शनिक विषय है। कहोगे कि 'उपाधिरूप बहुत सी चीज़ें हमें एक जैसी दीखती भी हैं।' वहाँ भी कालभेद से भेद है। पाँच मिनट पहले वाला पदार्थ यदि और किसी तरह न बदला तो कम-से-कम अब पाँच मिनट बाद वाला पदार्थ तो बन ही गया! काल की उपाधि बदल गई, समय अलग-अलग हो गया। जो उपहित है, वह तो कभी बदलता नहीं, सर्वथा एक जैसा रहता

है; और उपाधि कभी भी बिना बदले नहीं रहती है। ग़लती तब होती है, जब हम उपाधि को न बदलने वाला मान लेते हैं अथवा उपाधि वाले परमात्मा को बदलने वाला मान लेते हैं। मोटे दृष्टांत से समझो : सोना एक जैसे रूप में नहीं रहता। आज पासा, कल कड़ा तो परसों करधनी है। सोने के ये सारे रूप उपाधियाँ हैं, ये बदलती रहती हैं। लेकिन उन सबके अन्दर जो स्वर्ण (सोना) है, वह कभी नहीं बदलता। गहना बिना बदले नहीं रहेगा और सोना कभी बदलेगा नहीं। इसी प्रकार से चेतन शिव कभी बदलता नहीं, उसके अन्दर अविद्या से कल्पित उपाधियाँ निरंतर बदलती रहती हैं। दूसरे दृष्टांत से समझ लो : सर्दी हटाने के लिये वस्त्र तो हमेशा पहनना ही पड़ेगा। यह नियम कभी बदलने वाला नहीं है। लेकिन वस्त्र के प्रकार, जिनका 'फैशन' है, कभी एक जैसे रहने वाले नहीं हैं। कभी बारह कड़ियों वाला बगलबंद पहनेंगे, कभी बटन लगायेंगे कभी गले पर मुड़ा हुआ कालर बड़ा हो जायेगा तो कभी कालर हट जायेगा। वस्त्र का पहनना तो कभी बदलने वाला नहीं। चाहे जिस ढंग से पहनो, पहनना तो वस्त्र ही है लेकिन उसकी उपाधि बदलती रहेगी। हम लोगों ने जब कुर्ता पहना तब हमारे बड़े कहते थे कि 'ज़माना बिगड़ गया है, बगलबन्दी छोड़कर कुर्ता पहनते हैं।' तुम लड़कों से कहते हो 'यह क्या ड्रेन पाइप पैण्ट पहनते हो, ज़माना बिगड़ गया है।' इसी प्रकार तुम्हारे लड़के भी अपने लड़कों से कहते रहेंगे।

उपाधि कभी एक जैसी नहीं रहती और उपहित कभी बदलता नहीं। केवल उपहित को पकड़ने से भी उपासना नहीं बनती और केवल उपाधि को पकड़ने से भी नहीं बनती। उपासना में

उपाधि और उपहित दोनों आवश्यक हैं। इसीलिये उपासना ज़रा कड़ा मामला है। संसार के व्यवहारों में केवल उपाधि का विचार है, उपाधि वाले का विचार ही नहीं। जितने लौकिक व्यवहार हैं, वे सारे उपाधि को लेकर हैं, उसमें उपहित का विचार नहीं होता। सारे बाह्य पदार्थ दीख रहे हैं, उन्हीं का विचार है, उनके पीछे कुछ है या नहीं—इसका कोई विचार नहीं। इसलिये लौकिक यावत् व्यवहार केवल उपाधि को लेकर हैं। परमात्म-तत्त्व के ज्ञान के अन्दर उपाधि का स्पर्श नहीं। केवल उपहित, ज्ञानमात्र जो संविद्रूप है, उसी की दृष्टि है, वहाँ उपाधि बिल्कुल नहीं। 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् अद्वैतं शिवमुच्यते' सारी उपाधियों से रहित जो अद्वैत-तत्त्व है, वही शिव कहा जाता है। वहाँ उपाधि से कोई सम्बन्ध नहीं, सारी उपाधियों को हटा दिया जाता है। कर्म में उपाधि वाले का सम्बन्ध नहीं, ज्ञान में उपाधि का सम्बन्ध नहीं।

उपासना इनके बीच में बैठी हुई है। उसमें उपाधि भी है और उपाधि वाली भगवती भी है। इसीलिये उसको उप-आसना कहा। आसन का अर्थ बैठना होता है। वस्तुतः हम लोग केवल एकमात्र संवित् में ही बैठ सकते हैं क्योंकि वही हमारा रूप है, और कहीं बैठना नहीं बनता। उसमें किसी प्रकार का हिलना-डुलना नहीं। इसीलिये उसको अधिष्ठान या अधिपूर्वक स्थान कहते हैं। उसके पास बैठना उपासना हुई। उसके अन्दर एक हो गये तो उपासना नहीं, आसना हो गई। समीप का मतलब है कि कुछ अलगाव है, नहीं तो उप शब्द क्यों कहते ? जैसे उपराष्ट्रपति का मतलब है कि जब राष्ट्रपति मरे तब यह राष्ट्रपति ही है, जब तक राष्ट्रपति ज़िन्दा है तब तक यह राष्ट्रपति नहीं; यही उपराष्ट्रपति का मतलब

है। इसी प्रकार उप-आसना का मतलब है कि उपाधि अगर ख़त्म हो गई तो एकरूप से आसना ही है और जब तक वह उपाधि है, तब तक समीप है। उपासना इसीलिये कठिन भी होती है क्योंकि इसमें उपाधि और उपहित दोनों का विचार होता है।

प्रायः लोग इसी में गड़बड़ाते हैं। कहते हैं—'महाराज ! एक ही परमात्मा को बता दो, इतनी उपाधियों वाला रूप क्यों ?' वे कहते हैं कि एक आत्मतत्त्व को बिना उपाधि के बताओ, लेकिन फिर उपासना कहाँ रहेगी ? दूसरे, केवल रूपों को भिन्न-भिन्न देखते हुए उन सबमें रहने वाला जो एकरूप है उसे भूल जाते हैं। इसलिये वे कर्मकाण्डी लोग द्वैतवादी बन जाते हैं। वे समझते हैं कि अलग-अलग देवता हैं जैसे अत्यंत अविचारशील भिन्न-भिन्न गहनों को देखते हुए उनमें रहने वाले सोने को नहीं समझता। यदि कोई कहे कि 'हमें दस तोले सोना ही पहनना है तो एक पासा ही गले में लटका लो, इतने भिन्न-भिन्न प्रकार के गहने बनाने का क्या फायदा ?' सोने का पासा बनाकर बैंक या तिज़ोरी में रखा जा सकता है। उसे गले में लटकाकर सुन्दरता नहीं बनेगी। इसी प्रकार सारी उपाधियों से निर्मुक्त संवित् हमारी समाधि के प्रयोजन वाली हो सकती है, लेकिन संसार के पदार्थों के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये तो उपाधि वाली उपासना ही आवश्यक होगी। लोग आकर सुनाते हैं कि शादी में चालीस तोले सोना चढ़ाया अर्थात् गहने चढ़ाये। सोने की कीमत का पता है, लेकिन सुन्दर बनाकर चढ़ाया। इसी प्रकार आत्मनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ जब उपासना का विचार करता है उसमें निर्गुण चिन्मयतत्त्व के खाली सोने को नहीं भूलता, लेकिन फिर भी उपासना के लिये

उसे सुन्दर बनाता है। वह सुन्दरता उपाधि है। यही राम और रावण का भेद रहा।

देवीभागवत में विचार आया है कि रावण की पराजय का क्या कारण है। यह तो निश्चित है कि रावण महातपस्वी और महान् विद्वान् था। वेदों का उसे बड़ा ज्ञान था, उसने ऋग्वेद पर भाष्य लिखा था जिसका कुछ अंश प्राप्त है। उसने मंत्रों का जो आध्यात्मिक रहस्य बताया है उसे पढ़कर मनुष्य को बड़ा आश्चर्य होता है। इसलिये यह नहीं समझना कि रावण कुछ जानता नहीं था। वह अपने जीवन के उद्देश्य को न जानता हो, ऐसा भी नहीं था। श्रावण के महीने में आप लोगों ने रावणकृत स्तोत्र का पाठ किया होगा। उसमें वह अपने जीवन का उद्देश्य बताता है—

'कदा निलिम्पनिर्झरी निकुञ्जकोटरे वसन्
विमुक्तदुर्मतिस्सदा शिरःस्थमञ्जलिं वहन्।
विलोल-लोल-लोचनो ललामभाललग्नकः
शिवेति मंत्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम्।।'

कहता है कि मेरा वह दिन कब आयेगा जब मैं सुखी होऊँगा। ऐसा क्यों कहा ? रावण तो बड़ा भारी राजा था, ब्रह्मा उसके यहाँ वेद पढ़ते थे, वरुण देवता जल बरसाते थे, पवन वायु का संचार करता था। आजकल लोग एक वातानुकूलित मकान बनाकर अपने आपको बड़ा समझते हैं और बड़े घमण्ड से कहते हैं कि 'हम एयरकंडिशण्ड मकान में रहते हैं।' रावण ने पवन के द्वारा सारी लंका को वातानुकूलित बना रखा था, सड़कें तक भी वहाँ वातानुकूलित थीं। वहाँ वायु, वरुण और सूर्य देवता के प्रभाव से

कभी सर्दी-गर्मी ज़्यादा नहीं हो पाती थी। वही रावण कहता है 'कदा सुखी भवाम्यहं' मैं कब सुखी होऊँगा ? इतना ऐश्वर्य होने पर भी मैं सुखी नहीं हूँ। मैं गंगा जी के किनारे पेड़ की खोह (कोटर—पेड़ के अन्दर की खाली जगह) में बैठा रहूँगा। झोंपड़ी भी बनाने की इच्छा नहीं है। अपनी इन सारी दुर्मतियों को छोड़ दूँगा कि 'देवता मेरी बात मानें, मेरे जैसा पराक्रमी नहीं है, मेरे सामने कोई युद्ध में नहीं टिक सकता'—ये सारी मेरी दुर्मतियाँ हैं, इन सबसे मैं कब छूट जाऊँगा ! सबसे छूट जाओगे तब क्या करोगे ? कहता है अंजलि बाँधकर मस्तक पर रखे रहूँगा कि भगवान् को प्रणाम होता रहे। भगवान् शंकर के प्रेम में ही मेरी आँखें चंचल होंगी। इतना ही नहीं, 'शिव' इस मंत्र का उच्चारण करते हुए, हृदय में आनंद का अनुभव करते हुए मैं कब सुखी होऊँगा !

'दृषद्विचित्रतल्पयोः भुजंगमौक्तिकस्रजोः
गरिष्ठरत्नलोष्ठयोः सुहृद्विपक्षपक्षयोः।
तृणारविन्दचक्षुषोः प्रजामहीमहेन्द्रयोः
समं प्रवर्तयन्मनः कदा सदा शिवं भजे।।'

संसार के सब पदार्थों में मेरी समदृष्टि कब होगी ? कब ऐसा समय आयेगा जब पत्थर के ऊपर लेटने में और अत्यंत सुखद बिस्तर के ऊपर लेटने में, कमलनयना स्त्री में और तिनके के एक टुकड़े में, सारी पृथ्वी के अधिपति में और साधारण प्रजा में, मेरा मन एक जैसा रहेगा ? पत्थर की चट्टान पर लेटा तो, और विचित्र तल्प पर लेटा तो, राजा ने बुला लिया तो, साधारण व्यक्ति ने

बुला लिया तो, इन सबके अन्दर मैं एक होकर रहूँ—कब मेरी यह स्थिति होगी ?

रावण की विद्वत्ता और तपस्या में कोई कमी नहीं, जीवन के उद्देश्य को भी वह जानता था। यह भी समझता था कि मेरा यह उद्देश्य पूरा नहीं हो रहा है। शास्त्र में विचार आया है कि वह यह सब क्यों नहीं कर पाया ? उसका मूल कारण यह बताया कि उसने शिव की पूजा और शिव का विचार करते हुए शक्ति का विचार और शक्ति की पूजा नहीं की। उपहित के विचार में रहकर उसने उपाधि को नहीं समझा। वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट आता है कि वह अपने पास सोने का शिवलिंग रखता था लेकिन उसकी पूजा वह बिना पीठ के करता था। शक्ति के हिस्से को नहीं रखता था, केवल लिंग को रखता था। 'कृत्वा बालूमयीं वेदीं' जहाँ पूजा करनी हो वहाँ बालू की वेदिका बनाकर पूजा कर लेता था। उपाधि अथवा शक्ति-तत्त्व की तरफ उसकी दृष्टि नहीं थी, इसलिये उसे हारना पड़ा। केवल राम से ही नहीं, सबसे पहले काम से हारा। हृदय की कामनाओं को विजय नहीं कर सका। जब काम को नहीं जीत सका तब राम के द्वारा ख़त्म किया गया।

जब भगवान् राम जंगल में गये तब सीता-हरण हुआ। सीता-हरण क्यों हुआ ? इसका रहस्य बता देते हैं : सीता के कहने मात्र से राम चल दिये ! 'चर्मानय स्वकान्तेति स्वाधीनपतिका यथा' उनकी कान्ता सीता ने कहा 'इस मृगचर्म को ले आओ।' यहाँ शास्त्रकार दो शब्द देते हैं—स्वकान्ता और स्वाधीनपतिका। सीता ने कहा कि 'यह चमड़ा मुझे पसंद है, ले जाओ।' राम ने सोचा तक नहीं कि यह लाना ठीक है या नहीं ! जैसे पति को मुट्ठी

में रखने वाली औरत हो इस ढंग से सीता बोली। जिसका पति पर शासन चले, उसे स्वाधीनपतिका कहते हैं। सीता अपने को स्वाधीनपतिका इसलिये समझती थी कि राम ने उसे अपनी स्वकांता मान रखा था कि 'यह कमनीय है, मेरी इच्छा का विषय है।' पति और पत्नी का सम्बन्ध हमारे यहाँ धर्मज सम्बन्ध है, कामज सम्बन्ध नहीं है। यही वैदिक विवाह और शादी अथवा मैरिज (marriage) के अन्दर फर्क है। वैदिक विवाह का उद्देश्य है कि पति-पत्नी दोनों मिलकर परमात्मा की प्राप्ति के लिये आगे बढ़ें, यह विवाह की प्रतिज्ञा है। विवाह शब्द का अर्थ ही यह है। 'वह' मायने ढोना; अर्थात् हम दोनों मिलकर धर्मशास्त्र की मर्यादाओं का अच्छी तरह वहन करेंगे। यह विवाह का उद्देश्य है। इसकी जगह जब स्वकांता माना अर्थात् माना कि 'यह मेरी कामना का विषय है' तब शादी या मैरिज हो जाती है, विवाह नहीं रहता। इसलिये शास्त्रकारों ने यहाँ दो शब्द दिये कि भगवान् राम ने उसे स्वकांता समझा तो उसका फल हुआ 'स्वाधीनपतिका यथा।' जब घरवाली हुक्म देती है तो पति सोचता है कि कड़ा बोलती है। इसका कारण यह है कि तुमने उसे कामना का विषय बना रखा है, इसलिये वह भी स्वाधीनपतिका बनी है। जब काम-सम्बन्ध होता है तब विवेकपूर्ण प्रवृत्ति नहीं रह जाती। 'अविचार्याथ रामोऽपि तत्र संस्थाप्य लक्ष्मणम्'। राम ने भी आगे विचार नहीं किया कि ऐसा हिरन हो सकता है या नहीं, इसकी सम्भावना है या नहीं, जाना ठीक है या नहीं; ऐसा कुछ विचार नहीं किया। बिना विचार के ही राम झट वहाँ से चल दिये। स्वकांता समझा, पत्नी स्वाधीनपतिका हुई, तो उसका नतीजा अविचार है।

इसके द्वारा बताया कि किस प्रकार संसार के पदार्थों में जीव की प्रगति होती है। पहले उपाधि को कमनीय मानता है। नामरूपकर्मात्मक जगत् को जिसने पहले अपनी कांता बना लिया कि 'हमें यह चाहिये या यह हमारी कामना का विषय हो' वह उनके परतंत्र होगा ही। जहाँ तुमने नामरूपकर्मात्मक जगत् को कांता माना, वहाँ तुम्हारी चोटी उनके हाथ गई ! 'स्वाधीनपतिका यथा' फिर वे नाम, रूप, कर्म तुम्हें नचायेंगे। खुद ही नहीं पता कि क्यों नाच रहे हैं, लेकिन नाचे चले जा रहे हैं ! इस नाचने में विचार भी नहीं रहता कि 'मैं क्यों इनके पीछे इतना कार्य कर रहा हूँ ? ये सारे पदार्थ तो रह जाने हैं और जब यहाँ से छोड़कर जाऊँगा तब पुण्य-पाप की गठरी बाँध कर ले जाना है।' जिस रुपये को एकत्रित करने के लिये झूठ बोलना, ठगी करना आदि सब कुछ करते हो, जब यहाँ से जाओगे तब क्या साथ ले जाओगे? इसे न सोचने का नाम अविचार है। जाना अवश्य है यह जानते हैं, और यह भी जानते हैं कि जाते समय कुछ नहीं ले जायेंगे, फिर भी अविचार से प्रवृत्ति करते हैं।

भगवान् राम ने लक्ष्मण से कहा 'तुम यहीं रहना।' मारीच ने आवाज़ दी। सीता कहने लगीं 'तुम भी जाओ।' किस तरह से अविचार बढ़ता है यह बताते हैं। राम सकल सृष्टि के अधिपति हैं, अविचार की अवस्था में सीता को इसका भी ज्ञान नहीं रहा। उल्टा लक्ष्मण ने कहा 'राम को कोई कुछ नहीं कर सकता, मुझे यहीं रहने दो।' चूँकि अविचार बढ़ा हुआ था, इसलिये सीता जी कहने लगीं 'अरे लक्ष्मण ! तू क्यों नहीं जा रहा है, यह मैं जानती हूँ। तेरी मुझ पर कुदृष्टि है, इसलिये तू नहीं जा रहा

है ! तू कुटिलों में भी अधम है। भरत ने तो केवल राज्य दबाया, तू मुझे लेने आया है ! तू मुझे वैसी औरत नहीं समझना जो स्वैरिणी अर्थात् इधर-उधर भागने वाली हो।' यह अविचार की सीमा है। लक्ष्मण बेचारे चले गये।

प्रश्न होता है कि सीताहरण क्यों हुआ, इतना कष्ट उसे क्यों उठाना पड़ा ? अविचार ही मूल कारण है। जब अविचार बढ़ा हुआ हो तब जिसे दोष नहीं देना चाहिये, जिसमें दोष की कल्पना भी नहीं, वहाँ दोष का आरोपण करते हैं। लक्ष्मण पर मात्सर्य और फिर क्रोध हुआ। लक्ष्मण गये, रावण आया, सीता जी को ले गया। भगवान् राम घूमते-फिरते किष्किंधा पहुँचे। चातुर्मास्य वहीं व्यतीत किया। वहाँ भगवान् ने लक्ष्मण से कहा 'अपने ऊपर बड़ी भयंकर विपत्तियाँ आईं। यह जो दैव, प्रारब्ध है, इसने मेरे साथ बुरा किया है। और आगे क्या करेगा, इसका भी ठिकाना नहीं। हाथ में आया हुआ राज्य चला गया। एक रात का ही तो मामला था, भरत नहीं आते तो सब काम हो गया था। क्षणमात्र में सारा राज्य चला गया, कोई लड़ाई झगड़ा भी नहीं हुआ। वह साधारण राज्य नहीं था, इन्द्र जैसा राज्य हाथ में आया हुआ चला गया। राज्य ही गया हो बाकी सुख-सुविधा बची हो ऐसा भी नहीं। सारा राज्य हाथ से निकल गया और वन में आकर रहना पड़ा ! इनमें से एक-एक दुःख भयंकर है। पिता भी मेरे परोक्ष में मर गये। बड़ा लड़का होकर भी मैं और्ध्वदेहिक नहीं कर पाया। अब पत्नी बची थी, वह भी हरण कर ली गई ! इस प्रकार यह दैव मुझे पीडा देता हुआ आगे न जाने क्या करेगा। हे भरतानुज ! लक्ष्मण ! भविष्य अपनी गोद में क्या रखता है, यह दुर्ज्ञेय है। भविष्य की

यवनिका को हटाकर देखना कि 'उसके पीछे क्या है', दुर्ज्ञेय है। देख, कैसे कुल में हमने जन्म लिया था, सबसे श्रेष्ठ कुल मनुकुल में जन्म लिया। हम दोनों राजपुत्र हैं। उनके वंश में साधारण ज़मींदार भी हो सकते हैं, पर वह नहीं, हम दोनों राजपुत्र हैं। इस वन में आकर हम दोनों इस अतिदुःख को भोग रहे हैं। ये सारे दुःख किसी-न-किसी पूर्वकृत कर्म का ही फल है।' श्री राम दुःखी होकर यहाँ तक कहते हैं 'आज तक अपने कुल में कोई मेरे जैसा दुःखी नहीं हुआ।' वाल्मीकि ने रामायण में इससे भी ज़बरदस्त बात कही है। कौशल्या से कहते हैं कि 'तुमने मेरे जैसे बेटे को उत्पन्न करके नव मास व्यर्थ ही गर्भ ढोया।'

विचार करो यह सब क्यों हुआ ? भागवतकार ने कह दिया, स्वकांता समझने से, स्वाधीनपतिका पत्नी होने से और अविचार से। यह नहीं कि पूर्व जन्म में किया हुआ, बल्कि यहीं उसका देखने में आता है कि अविचार कारण है। सीता के अन्दर स्वकान्तात्व, उसके फलस्वरूप उसका स्वाधीनपतिकापना और उससे होने वाला अविचार। जीवमात्र का यही हाल है। जब नाम, रूप, कर्म उपाधि को कान्ता बनाओगे, उसके अधीन होगे तब अविचार उत्पन्न होगा और तब राज्य हाथ से निकल जायेगा। राज का मतलब प्रकाशक होता है। अपना जो स्वयंप्रकाश राज्य है जिसे वेद स्वाराज्य, साम्राज्य कहता है, वह अपना आत्मराज्य चला जायेगा। अभी उस राज्य को छोड़कर, घोर जंगल में ही तो रह रहे हो—कहीं कामना रूपी शेर तो कहीं क्रोध रूपी महिष आकर आक्रमण करते हैं। कहीं लोभ-मोह चण्ड-मुण्ड बनकर आते हैं तो कहीं अहंता-ममता मधु-कैटभ बनकर आते हैं। यह कोई शहर

में रहना नहीं है। घोर जंगल में ही रह रहे हो। दिल्ली में भी एक तरफ कामरूपी ट्रक तो दूसरी तरफ क्रोध रूप बस, लोभ-मोह रूपी स्कूटर-साईकिल वाले हैं। यहाँ भी जंगल ही है। किस समय जान चली जाय, कोई ठिकाना नहीं। नाम, रूप, कर्म के अधीन हुए तो राज्य गया। तुम्हारे पिता परब्रह्म परमात्मा तुम्हारे लिये मरे हुए हैं। बुरा नहीं मानना, संसार में बाकी सबपर विश्वास तुम्हें है, एक केवल ईश्वर पर विश्वास नहीं है। जिन नोटों के बारे में हर तीसरे दिन खबर आती है कि चलना बंद हो जायेंगे, उन नोटों पर जितना विश्वास है, क्या ईश्वर पर उतना भी विश्वास है ? जेब में पाँच रुपये का नोट हो तो जितना आराम अनुभव करते हो, यदि जेब में माला हो तो क्या उतना आराम अनुभव करते हो ? लोग कहते हैं 'ईश्वर है, ऐसा हम मानते हैं और सवेरे शाम राम-नाम भी ले लेते हैं, लेकिन व्यवहार तो आखिर व्यवहार ही है, झूठ बोले बिना काम नहीं चलता।' मतलब हुआ ईश्वर का राज्य अब नहीं चलता, वह शायद बूढ़ा होकर 'रिटायर' हो गया होगा ! जिस नाम, रूप, कर्म की उपाधि के पीछे इतना टण्टा किया, वे भी पकड़ में नहीं आते। संसार के जिन पदार्थों के लिये यह सब छोड़ा, वे भी मिलकर सुख देते हों, ऐसा नहीं। कहते हैं—'महँगाई बढ़ती जाती है।' पिता जी गाय-भैंस का पाव भर घी रोज़ खाते थे। तुमने भजन-पूजन छोड़ दिया तो एक किलो रोज़ खाते होगे ? कहते हैं, 'नहीं सूखा फुलका खाते हैं और साग मशीन से निकाले हुए वैजीटेबल घी में बनाते हैं, डालडा घी में विश्वास रखते हैं।' तुम्हारे पिता जी कुएँ का ताज़ा पानी निकालकर पीते थे और तुम हफ्ता-दस दिन तक वाटर-वर्क्स में सड़ा हुआ

पानी पीते हो। ताज़े पानी का स्वाद भी लोग भूल गये ! जिस नाम, रूप, कर्म उपाधि के पीछे पड़े, वह भी हाथ नहीं आई।

अपना जो आत्म राज्य चला गया, वह कैसा था ? 'हस्तगतं राज्यं' अपना स्वराज्य, साम्राज्य हाथ में आया हुआ है। आत्म-राज्य कोई दूर नहीं है, नित्य-निरंतर तुम्हारे अन्दर विद्यमान है, क्योंकि कहीं से लाना नहीं है इसलिये हाथ में ही है। जैसे परमात्मा का ऐश्वर्य है वैसा ही उस राज्य का ऐश्वर्य है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म *जैसा* नहीं, ब्रह्म *ही* हो जाता है। ऐसा राज्य एक क्षण में छोड़ दिया। किसके लिये ? नाम, रूप कर्म में दृष्टि करके, उसमें इष्टबुद्धि करके इसे छोड़ दिया।

जब श्रीराम ने अपना दुःख प्रकट किया तब पहले लक्ष्मण ने समझाया कि 'भैया ! इतना दुःख मत करो क्योंकि 'सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखं।' हे रघुनन्दन ! सुख के बाद दुःख आता है और दुःख के बाद सुख आता है, ये चक्र की तरह घूमते हैं। इसलिये हमेशा दुःख रहेगा, ऐसा मत सोचो।' 'रघुनन्दन' सम्बोधन किया अर्थात् अपने कुल का स्मरण करो। रघु ने क्या किया था ? अपना सर्वस्व दान करने के बाद जब ब्राह्मण माँगने आया था तब उन्होंने इन्द्र पर चढ़ाई करने का विचार किया था, अकेले ही जाने का विचार किया था। और हम लोग तो दो हैं। फिर क्यों रावण से डरते हो ? इसी तरह यदि अंतःकरण नाम रूप कर्म में फँसकर दुःख पा रहा हो तो घबराने की ज़रूरत नहीं। इस नाम रूप कर्मात्मक जगत् से एक दिन वैराग्य होने पर उस आत्म-सुख की प्राप्ति अवश्य होनी है। लेकिन यह विचार

याद रखो कि हम ब्रह्मकुल में उत्पन्न हुए हैं। हम परमात्मा के पुत्र हैं, इस बात को याद रखना है। जिस प्रकार लक्ष्मण ने कहा कि हे 'रघुनन्दन ! रघु को याद करो।' पुत्र को नंदन इसलिये कहते हैं कि वह सुख दे। राम भी रघु को प्रसन्न करने वाले थे। इसी प्रकार हमें अपने पिता को प्रसन्न करना है। परमात्मा को प्रसन्न करने की हमने जहाँ दृष्टि की वहाँ यह नामरूपकर्मात्मक आसक्ति झट हट जायेगी, फिर देर लगने वाली नहीं है।

इस प्रकार दोनों रावण के बारे में विचार कर ही रहे थे कि वहाँ नारद जी सामगान करते हुए आ पहुँचे। बात-चीत हुई और उन्होंने नारद जी से सब काण्ड कह सुनाये। नारदजी ने कहा—'यह बहुत बुरा हुआ, लेकिन तुमने इस दुःख का अनुभव किया तो इससे तुम्हें उपाधि की दृष्टि हुई। अब इस उपाधि से उपहित को पकड़ लो। रावण चूँकि उपाधि का विचार नहीं करता, इसलिये तुम उसे जीत लोगे।' तब उन्होंने विधान किया कि किस प्रकार उपासना के द्वारा उपाधि छोड़कर उपहित की प्राप्ति हो। 'नवरात्रि पर्यन्त उपवास रखकर तुम भगवती का पूजन करो।'

रात्रि शब्द का अर्थ है जो सुख देकर दुःख से त्राण करे। रात्रि शब्द में 'रा' मायने सुख और 'त्रि' मायने त्राण करना अर्थात् बचाना। जो सुख देकर दुःख से त्राण करे उसे रात्रि कहते हैं। भाषा में निशा को रात कहते हैं। सूर्य डूबने के बाद और उदय होने से पहले रात होती है। जितना नाम-रूप-कर्मात्मक जगत् है, उससे वह बचा लेती है। एक भिखमंगा जिस समय फुटपाथ पर खुरटि ले रहा है, उस समय वह भी सारे दुःखों से रहित है और सुख का अनुभव कर रहा है। उठकर कहता है कि 'बड़े आनंद

से सोया'। शायद जितने दिन वह कहता है कि बड़े आनंद से सोया, उतने दिन एक वातानुकूल कमरे में सोने वाला नहीं कहता कि आनंद से सोया ! वह तो प्रायः कहता है, 'रात में नींद ही नहीं आई, सिर भारी है !'

अभी तक हमने संसार के पदार्थों को सुख देने वाला और दुःख को हटाने वाला मान रखा है, वे नव इन्द्रियों के द्वारा गृहीत हैं। कहोगे 'इन्द्रियाँ तो दस हैं' लेकिन जीभरूप एक ही गोलक में वाक् और रसना दोनों इंद्रियाँ काम कर लेती हैं अतः गोलकदृष्ट्या नौ इंद्रियाँ भी कह सकते हैं। इन्हें हमने अपने सुख का साधन समझ रखा है। कोई अंधा है तो वह यह नहीं कहेगा कि 'मेरा ब्याह काली लड़की से नहीं करना, गोरी लड़की से करना!' आँख वाला ही यह कहेगा। इसी प्रकार बहरा आदमी नहीं कहेगा कि 'अच्छा गाने वाली से मेरा ब्याह करना।' इंद्रियों को लेकर ही भोग-दृष्टि है। इन नवरात्रों को (संसार के पदार्थों को) हमने सुखरूप मान रखा है। नाम, रूप, कर्म के अन्दर जो हमको सुख-बुद्धि हो रही है वहाँ से सुख-बुद्धि को हटाना ही उपवास है। सांसारिक नाम-रूप-कर्म को हटाने के लिये भगवती के नाम, रूप, कर्मों का आधान करना पड़ेगा। सुन्दर रूप देखना हो तो भगवती के सुन्दर विग्रह और मूर्ति की स्थापना करो। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों में समझ लेना। संसार के कण-कण और क्षण-क्षण में व्यापक होने वाली संवित् ही इन सारे नाम, रूप, कर्मों में प्रकट हो रही है इस बात को जान लेना है। इसीलिये नवरात्र का उपवास रखा जाता है और भगवती का पूजन किया जाता है। इसके द्वारा रावण को जीत लोगे, क्योंकि रावण ने यह उपासना

नहीं की है। इसीलिये उसका बेचारे का कामबीज नष्ट नहीं हुआ। कोई आदमी पहलवान हो, यदि उसे कोई ज़ोर करने वाला नहीं मिलता तो उसे आराम नहीं मिलता। इसी प्रकार यदि तुमने अपनी इन्द्रियों के द्वारा परमात्मा की उपासना कर ली तब तो इन्द्रियों की थकावट अर्थात् कामनायें मिट जायेंगी और यदि परमात्मा के सुन्दर विग्रह नहीं देखे और उनके आनन्द को नहीं लिया, तो इन्द्रियों की थकावट नहीं मिटेगी चाहे कितना ही विचार क्यों न करें, क्योंकि अन्दर-ही-अन्दर काम, क्रोध आदि बने रहेंगे, उन्हें मौका जो नहीं मिला।

नारद जी ने कहा—'हे राम ! अब तुम जीत जाओगे क्योंकि तुमने नवरात्र का उपवास करके भगवती का पूजन कर लिया। रावण पहले ही काम से मारा हुआ है, अब तुम्हारे द्वारा तो उसका शरीर मारा जायेगा।' वह भगवती कभी भी उपेक्ष्य नहीं है। यह नहीं समझना कि 'वह माया है, उपेक्षा कर दूँगा।' वह संवित् है। वह सदा रहने वाली है, नित्य है, आदि शक्ति है, पराशक्ति है। पूजन पराशक्ति का, संवित् का करते हैं अविद्या का पूजन नहीं है। जब हम उसे अपनी देवी समझते हैं तब वह हमारी सारी कामनाओं को पूर्ण कर देती है। जब हम उसकी पूजा करते हैं तब वह हमारे सारे दुःखों को नष्ट कर देती है। केवल उसको अपनी देवी मान लेने मात्र से दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। मन में निश्चय हो कि 'मुझे केवल इससे ही मिलना है', इतने मात्र से कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। पूजा करो तो पूर्वकृत सारे कर्मों के दुःखों को नष्ट कर देती है।

कोई कहे कि 'इससे भी आगे जाना चाहते हैं', तो नारद जी

कहते हैं—'तां ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्'। यह भगवती की विशेषता है कि सारी कामनाओं को पूर्ण किया और सारे दुःखों को हटाया इतना ही नहीं, यदि उस संवित् भगवती के स्वरूप को जान लिया तो जन्म और संसार के बंधनों से मुक्त हो जाते हो। मोक्ष भी वही दे देती है। पूजा करने से पूर्व-जन्म के कर्मों का नाश, सारे कर्मों से होने वाले दुःख का नाश, उसे देवी मान लेने से सारी कामनाओं की पूर्ति और यदि उसके स्वरूप को जान लिया तो मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

ऐसा करने के लिये इस भगवती की स्थापना कहाँ करनी है, इसका नियम बताते हैं। बड़ा सरल नियम है 'पीठं कृत्वा समे स्थाने संस्थाप्य जगदम्बिकाम्।' बराबरी की जगह पर (ऊँची-नीची नहीं) भगवती की पीठ-स्थापना करनी चाहिये। बाह्य पीठ स्थापित करो तो जगह समतल हो। लेकिन वास्तव में जगदम्बा की पीठ अपने अंतःकरण में बनानी है। उसके लिये अंतःकरण को पहले समता वाला बनाना पड़ेगा। उसके अंदर ऊपर नीचे का भाव देखोगे तो भगवती की स्थापना नहीं होगी। अंतःकरण के समता के भाव में जगदम्बिका स्थापित करनी है। नवकन्या का पूजन भी करना है। शास्त्र में बताया है कि नवकन्या के पूजन में वर्ण, कुल आदि का कुछ विचार नहीं करना। जिस समय कन्या को वहाँ बैठा दिया तब वह साक्षात् देवी है। जिस पत्थर की मूर्ति बनाते हो वह पत्थर किसी 'ट्रेड मार्क' वाला तो नहीं निकलता, सब पत्थर एक जैसे हैं। जब उसमें देवता की स्थापना की तब वह देवता है। उसी प्रकार सब कन्यायें एक जैसी हैं। जब उनमें भगवती की स्थापना की तब वे भगवती हैं। इसी प्रकार संसार

के सारे पदार्थ और सारी परिस्थितियाँ एक जैसी हैं, उसमें जगदम्बा की बुद्धि कर ली तो उसकी स्थापना हो गई। समता का यह सबसे बड़ा प्रतीक है। भगवान् मनु ने यह भी बताया कि यदि कोई पढ़ा-लिखा ब्राह्मण न हो तो क्या करे। एक शर्त लगाई 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' कि ब्राह्मण और कुछ भी करने में समर्थ न हो तो भी सब प्राणियों के लिये मित्रता का भाव रखे अर्थात् समभाव वाला हो। वही भगवती की उपासना में कह रहे हैं कि हमेशा याद रखो कि जो परिस्थिति आये, वह सब भगवती के रूप में ही आ रही है। राम की उपासना पूर्ण हुई, भगवती का दर्शन हुआ, भगवती की कृपा से उन्होंने रावण को विजय किया।

राम की जीवन-गाथा के विचार से बताया कि किस प्रकार दुःख की प्राप्ति हुई और पुनः सुख की प्राप्ति होगी। जीवमात्र को नाम रूप कर्मात्मक जगत् में जाने से दुःख की प्राप्ति होती है और उसको फिर से सम-बुद्धि लाकर नवरात्रि का उपवास करके जगदम्बा की स्थापना से सुख की प्राप्ति होती है।

ॐ

प्रवचन-८

सूत संहिता के आधार पर भगवती की उपासना के दो प्रकार बताये—बाह्य उपासना और आभ्यंतर उपासना। बाह्य उपासना के साधक के भेद से तीन भेद बताये—तामस, राजस और सात्त्विक। तमोगुणी उपासक की तामस उपासना, रजोगुणी उपासक की राजस उपासना और सत्त्वगुणी उपासक की सात्त्विक उपासना है। दूसरे में दोष देखते हुए क्रोधपूर्वक दूसरे को पीडा देने के उद्देश्य से और दम्भ के दृष्टिकोण से, अपने धर्म को प्रख्यात करने के दृष्टिकोण से जो उपासना है, वह तामस उपासना है। साधक मात्सर्य और क्रोध से युक्त है, दम्भ उसको प्रवृत्त करता है, दूसरे को कष्ट देना उसका भाव है, यह तामस उपासना है। जो उपासना दूसरे को पीडा देने के लिये नहीं वरन् अपने लाभ, यश और भोग की इच्छा से की जाय वह राजस उपासना है। पापों को नष्ट करने की दृष्टि से परमेश्वरार्पण बुद्धि से जो उपासना की जाये, वह सात्त्विक उपासना है। इसमें न अपने यश की और न भोग की इच्छा है, न परपीडा की दृष्टि है, केवल ईश्वर की प्रसन्नता की इच्छा है। ये तीनों बाह्य उपासना के भेद हुए।

दूसरी, आभ्यंतर उपासना है। आभ्यंतर उपासना का रूप बताते हुए कहा—'परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेत् यो हि अतन्द्रितः' आभ्यंतर उपासना का सबसे पहला लक्षण परम अनुराग बताया। महर्षि शाण्डिल्य ने भी भक्ति का यही लक्षण किया 'सा

परानुरक्तिरीश्वरे' परानुरक्ति का स्वरूप क्या है ? तामस उपासना में पर-द्रोह, राजस उपासना में पर की दृष्टि न होना और सात्त्विक उपासना में अपना स्वार्थ तो नहीं, लेकिन ईश्वरार्पण दृष्टि से अपने पापों को धोने की इच्छा है। आभ्यंतर पूजा का जो अधिकारी है, उसमें ये तीनों नहीं हैं। उसमें केवल परानुरक्ति, पर-प्रेम है। पर-प्रेम का स्वरूप है जहाँ प्रेम किये बिना रहा न जाये अर्थात् जहाँ प्रेम का कोई निमित्त अथवा कारण न हो, उसको परानुरक्ति कहेंगे। मनुष्य का जो अपने ऊपर प्रेम है, उसका कोई कारण नहीं है। पत्नी सुन्दर है तो प्रिय लगी, असुन्दर है तो प्रिय नहीं लगी। लेकिन असुन्दर से असुन्दर मनुष्य अपने आपको प्रेम करता है। किसी का ऐसा अनुभव नहीं कि 'मुझे अपने आप से प्रेम नहीं क्योंकि मेरा नाक कटा है या कान छोटा है।' इसी प्रकार बिना किसी निमित्त या हेतु, बिना किसी कारण के अनुरक्ति या प्रेम को परानुरक्ति कहेंगे। कारण से होने वाला प्रेम अपर प्रेम और कारणरहित होने वाला प्रेम पर-प्रेम है। यहीं इच्छा शक्ति का शुद्ध प्रयोग है। जहाँ इच्छा किसी कारण से होती है वहाँ वह कामना है, जहाँ इच्छा बिना किसी कारण के, स्वतंत्र रूप से होती है, वह प्रेम है।

प्रायः कामना के संसार में रहने वाला मनुष्य, नित्य निरंतर कामनाओं की ज्वाला में दहकते रहने का जिसका स्वभाव पड़ गया है, वह प्रेम को नहीं समझ सकता, इसलिये वह हमेशा प्रेम में काम को देखता है। जहाँ किसी कारण से प्रेम होगा वहाँ काम होगा, जहाँ बिना कारण के प्रेम होगा वहीं प्रेम होगा। लेकिन जो व्यक्ति निरंतर कामनाओं के संसार में रहता है उसके दिमाग में

यह बात आती ही नहीं कि प्रेम संभव है। इसलिये वह जहाँ भी प्रेम देखेगा वहाँ झट काम की कल्पना करेगा। जिसको घूस देने की आदत होती है, वह सब जगह घूस देगा, यहाँ तक कि भगवान् को भी घूस देता है, वहाँ भी सोचता है कि घूस से काम चलेगा। यदि वह किसी दूसरे को किसी का काम करते देखे तो कभी नहीं सोच सकता कि 'इसने ठीक समझा होगा तो काम कर दिया', वह तुरंत कल्पना करेगा कि 'ज़रूर इसने पैसा खा लिया होगा, नहीं तो काम न करता।' दूसरी तरफ जिसने एक बार प्रेम के रहस्य को समझ लिया, वह यदि किसी की काम की प्रवृत्ति भी देखता है तो सोचता है कि 'प्रेम होगा ! बिना किसी कारण इसे प्रेम होगा तो इसने इसका काम कर लिया होगा।' जैसे ईमानदार व्यक्ति यदि किसी को किसी का काम करते देखता है तो सोचता है कि इसे दया आ गई होगी। यह प्रेम और काम के दृष्टिकोण का फर्क है। जो बाह्य साधक सात्त्विक, राजस, तामस है, वह कभी कल्पना भी नहीं कर पाता कि कोई प्रेम से परमात्मा का भजन करता होगा। कोई आदमी यदि मन्दिर जाने लगे तो दूसरे पूछते हैं कि 'क्या तकलीफ आ पड़ी है', प्रेम से मन्दिर जाने लगा, यह बात उनकी समझ में ही नहीं आ सकती। इसलिये इसका लक्षण परानुरक्ति बताया। आभ्यंतर उपासना का अधिकारी वही होगा जिसके अन्दर निष्कारण प्रेम हो।

इस प्रेम का स्वरूप चित्त में क्या होगा ? जिसके साथ प्रेम होता है उसका ही चिंतन चलता है। यदि किसी कारण से कोई दूसरा व्यवहार कर ले, तो भी बाकी सब व्यवहार करते हुए अन्दर चिंतन केवल उसी प्रिय का चलता है। जैसे मधुमक्खी चारों तरफ

घूमती है, फूल को ढूँढती रहती है। इधर-उधर जाकर चक्कर काटते हुए जब फूल के पास पहुँचती है तब पहले तो प्रसन्नतापूर्वक उसके चारों तरफ घूमती रहती है, मानों फूल के भिन्न-भिन्न सौन्दर्यों का आस्वादन कर रही हो। फूल आगे-पीछे, चारों तरफ से कितना सुन्दर है, इसे देख रही है, उसकी पंखुड़ी के एक-एक मोड़ को देखकर प्रसन्न होती है कि यह कितना सुन्दर पुष्प है। अब उसकी सुन्दरता को देखकर उसका अगला कदम है, उस फूल के पास जाती है। कभी फूल को ऊपर से छू दिया कभी बगल से छू दिया—इस प्रकार वह मधुमक्खी फूल को कई जगह से स्पर्श करती है। उस पुष्प के अन्दर जो कोमलता है उसके रस को लेती है। पहले उसने उसके सौन्दर्य को देखा, फिर स्पर्श किया और उसके बाद धीरे से पुष्प का जो पराग (मधुस्थल) है, वहाँ जाती है। फिर ठीक उसके मध्यबिन्दु जहाँ से रस खींचना है, जहाँ रस भरा है, वहाँ पर पहुँचकर अपने आपको उस रस को खींचने में लीन कर लेती है। उस समय उसकी एकाग्रता वैसी ही होती है जैसे साधारण व्यक्ति को समाधि में अनुभूत होती है। उस समय यदि धीरे से जाकर उसे काट भी डालो तो उड़ेगी नहीं, उसकी इतनी एकाग्रता होती है !

ठीक इसी प्रकार से जीव को भी षट्पद (भौंरा) कहते हैं। हिन्दी साहित्य में अनेक जगह जीव को भौंरा कहा गया है। संस्कृत में भौंरे को द्विरेफ कहते हैं। रेफ मायने 'र्' (व्यंजन)। भ्रमर शब्द में दो 'र्' हैं (एक भ में मिला हुआ और दूसरा म के बाद)। क्योंकि उसके नाम में दो रेफ हैं इसलिये भौंरे को द्विरेफ कहते हैं। 'र्' आगम शास्त्रों में अग्नि बीज है। जीव के अन्दर दो अग्नियाँ रहती

हैं। एक अग्नि के द्वारा वह संसार के पदार्थों का स्पर्श करता है, दूसरी के द्वारा परमात्मा का स्पर्श करता है। इसीलिये जीव को भ्रमर कहा गया है। जैसे भौंरे के छः पैर होते हैं वैसे ही जीव के भी छह ही प्रधान पैर हैं 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन। इन छः पैरों वाला होने के कारण जीव को भौंरा कहा जाता है। जैसे यह भ्रमर इधर-उधर घूमता रहता है, जब तक उसको कहीं स्वाद नहीं आता। वह पुष्प ढूँढ रहा है। चाहे जितना इधर-उधर घूम ले, तुम्हारे सुन्दर से सुन्दर मकान को देख ले, उसे कोई तृप्ति नहीं होती क्योंकि वह तो पुष्प का ग्राहक है। इसी प्रकार जीव संसार के पदार्थों को चाहे कितना ही देख ले, उनमें भ्रमण कर ले, लेकिन उसे सुख-शांति की प्राप्ति नहीं होती। जब तक उसे अपना पुष्प नहीं मिलेगा, जब तक उसे साक्षात् परमात्मा की प्राप्ति नहीं होगी, घूमता ही रहेगा। अनादि काल से घूम रहा है। जब उस भगवती का साक्षात्कार होगा तभी उसके चित्त में शांति आयेगी। चाहे कुछ भी करे, चन्द्रमा और मंगल पर चला जाये, आमदनी चाहे एक हज़ार की दस हज़ार हो जाये, शांति इस सबसे नहीं मिल सकती। आजकल लोग इसी को उन्नति मानते हैं कि कितनी कमाई बढ़ गई, कितने मकान बढ़ गये, कितने हाइड्रोजन बम बनाये। पर चाहे चन्द्रमा में पहुँच जायें लेकिन शांति नहीं मिलने वाली है। यह सब व्यर्थ प्रयास है क्योंकि इन चीज़ों के लिये जीव घूम नहीं रहा है, वह तो पुष्प के लिये घूम रहा है। जब उसे पुष्प दिखाई पड़े तब प्रसन्न होकर उसके चारों तरफ घूमने लगता है। उसके एक-एक अंग पर, उसके सौन्दर्य पर उसकी दृष्टि रहती है। रूप,

रस, शब्द, स्पर्श, गंध को जगत् में देखकर उसे कोई तृप्ति नहीं हुई, पर भगवती के उस परम लावण्य को देखकर एक क्षण को भी वह पलक गिराना नहीं चाहता। श्रीमद्भागवत में कहा है कि गोपिकायें ब्रह्मा जी को गालियाँ देती हैं कि तुमने आँखों में पलकें क्यों बनाईं जो बार-बार गिर जाती हैं, एक क्षण के लिए कृष्ण को देखने नहीं देतीं। एक क्षण के लिये भी अत्यंत बाध्य होकर यदि दृष्टि को इधर से उधर करना पड़े तो लगता है मानो बिच्छू ने काट लिया। यह आत्म-दृष्टि है। यह नहीं कि सवेरे घण्टा भर सत्संग करके गये, तब से दूसरे दिन छह बजे तक चाँदनी चौक में 'अर्थम् अर्थम्' की दृष्टि रही और फिर सवेरे छह बजे भाव आया 'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्।' उससे पहले तक केवल 'अर्थ' पद ही याद रहा।

जब पुष्प के सौन्दर्य को देखता है तब अभी तक बाह्य पूजा ही हो रही है। दूर से देख रहा है। जब उसके स्पर्श का अनुभव किया उस काल में कुछ एकता आ जाती है। अगर अंगूठा अंगुली को छुएगा तो कुछ अंश में दोनों में एकता आ जायेगी, तभी स्पर्श होगा। पहले बाहर घूम रहा था, अब स्पर्श करता है। सत् और चित् रूप से तो परमात्मा को स्पर्श करता है लेकिन अभी आनंद और अनंत अलग-अलग हैं। जब सांख्य की दृष्टि से वहाँ पहुँचता है तब सत्, चित् रूप से एक जानता है, उतने अंशों में एक हो गया कि 'मैं हूँ', 'ईश्वर है', 'मैं चेतन हूँ', 'ईश्वर चेतन है।' इतने अंश में हम दोनों एक हैं। लेकिन 'वह आनंद रूप है और हम अत्यंत कठोर हैं, हमारे अन्दर वह नरमी नहीं जो आनंद देती है। भगवती कोमल होकर आनंदरूप है और हम जीव होकर कठोर

हैं। यह हमारे जन्म-जन्मान्तर के पापों का फल है। हमने भगवती से अभी क्षमा नहीं माँगी लेकिन हम क्षमा नहीं माँगते उससे पहले ही भगवती यह सोचकर कि यह क्षमा माँगेगा तो क्षमा करने की ज़रूरत पड़ेगी इसलिये वह पहले ही क्षमा करने के साधनों को लिये बैठी हैं। यह भगवती की कृपा है। हम लोग हृदय में कठोरता लिये बैठे हैं। सत्-चिद्रूपांश में एक हुए लेकिन आनंद अंश में एक नहीं हुए क्योंकि हमने अभी उसका स्पर्श नहीं किया। अनंत अंश में भी उसमें हमसे भेद है। वह एक-एक क्षण में कितने प्रकार के परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न प्रकार के आनंदों की सृष्टि कर लेती है। यह उनकी अनंतता हुई कि हर क्षण में हमारे अंदर अलग-अलग प्रकार से बनती चली जाती है। लेकिन हमारे अंदर ऐसी जडता है कि अनंत प्रकार के तो क्या, कुछ प्रकार बनने की भी हमारी सामर्थ्य नहीं है। इसीलिये जीव अपने आपको परमात्मा से ऊपर समझता रहता है। यह नहीं समझना कि ऐसा नहीं समझता है; जगह-जगह परमात्मा को उपदेश देता रहता है। परमात्मा उसका उपदेश सुनते नहीं, यह बात दूसरी है, लेकिन लोग कहते हैं 'महाराज ! संसार में इतना अन्याय फैल रहा है, भगवान् अवतार क्यों नहीं लेते ?' भगवान् को राय दे रहा है कि आपको पता नहीं कि 'इस समय अवतार लेना चाहिये।' अथवा 'भगवान् इतने पापों को क्यों बढ़ने देते हैं ?' यह सब भगवान् को राय देना ही है। इसलिये जब तक जीव अपने आपको उनसे ऊपर समझकर क्रिया करेगा तब तक उसके अंदर आनंद और अनंत का भाव पूर्ण नहीं होगा। उसकी जगह जब वह स्वयं तो स्थिर हो जायेगा और उस परब्रह्म-महिषी भगवती को क्रिया

करने देगा कि 'तुम जैसा करना चाहो वैसा करो', तब उसमें अनंत, आनंद का स्फुरण होगा।

इसीलिये बताया 'न मे चिंतास्ति तत्रापि देहसंरक्षणादिषु।' यह दृष्टि होनी चाहिये कि बाकी चीज़ों की तो चिंता ही क्या है! मेरा यह देह भी बचे या पिस कर खत्म हो जाये, इसकी भी मुझे चिंता नहीं है। 'मैं देवी के द्वारा, परब्रह्म महिषी के द्वारा ही सब कुछ करता हूँ। वह जो कुछ भी करती है, वैसे ही होवे'—जब जीव इस प्रकार सर्वथा परमप्रेम के द्वारा अपने आप को हटाता है, पदार्थों के ऊपर अपने आपादित, बलात् लाये हुए दृष्टिकोण को दूर करता है, तब यही अभ्यास हो जाता है। रस्सी को साँप रूप से देखना तुम्हारी आदत है। यदि साँप रूप से नहीं देखो, वहाँ जो है वही देखो तो रस्सी ही दीखनी है, दूसरी चीज़ नहीं। जब यह दृष्टि बनती है तब आनंद और अनंतता भी एक हो गई। पहले बाह्य और फिर केवल स्पर्शमात्र, पहले सत्-चित् एक हुए और अब सर्वथा भगवती के साथ एक हो गये तो उसके आनंद और अनंत के पूर्ण प्रवाह के द्वारा रस से भर गये। अब वह उसको हमेशा ही एक होकर अभिन्न होकर देखता है, उसमें सर्वथा किसी प्रकार का भेद नहीं रहा। नित्य अर्थात् हर क्षण में उससे अभिन्न होकर ही उसको जानता है। कभी-कभी अभिन्न और कभी-कभी भिन्न, ऐसा नहीं। अपने हाथ को उठाता है तो भी उससे अभिन्न जानकर ही उठाता है, भिन्न जानकर नहीं। यह नहीं समझ लेना कि ये केवल मन के भाव हैं, यह अनुभव होता है। ऐसा नहीं कि थोड़े दिनों के लिये ऐसा कर लेता होगा। कभी भी अब भगवती को अपने से भिन्न करके जानता ही नहीं।

भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि जो चीज़ पहले नहीं थी और जो चीज़ अंत में नहीं है वह बीच में होते हुए भी नहीं ही है। सृष्टि होने के पहले क्या था ? 'सदेव सोम्येदमग्रआसीत् एकमेवाऽद्वितीयं' एक अखण्ड चिन्मात्र ही था, संवित् के सिवाय कुछ भी नहीं था। प्रलय के बाद भी एक चिन्मात्र ही रह जायेगा। इसलिये बीच में जो यह भेद दीखता है, यह दीखते हुए भी नहीं है। उसके साथ बिना भेद के जब हम थे, वह सत्य था और अंत में जब उसके साथ बिना भेद के ही नित्य होकर रहना है, वही सत्य है। बीच में जितने विभेद हैं, वे मिथ्या हैं। लगता है मानो न जाने कब से हम बिछुड़े हैं, लेकिन बिछुड़ना है मिथ्या ही। एकता सत्य है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। भेद-दृष्टि क्यों होती है ? यह पहले बता आये हैं कि अभेद को स्फुट करने के लिये ही भेद-दृष्टि होती है। भेद के द्वारा अभेद प्रकट हो जाता है। जैसे भोजन में मिठाई के स्वाद को तेज़ करने के लिये अचार है। खाली मीठा खाओ तो गला पकड़ेगा। जैसे अचार का प्रयोजन मिठाई के स्वाद को उत्तेजित करना है, उसी प्रकार से परमात्मा के साथ तुम्हारी विभेद दृष्टि के बनने से—यद्यपि यह भेद वास्तविक नहीं हो सकता फिर भी भेद दृष्टि के बनने से—उसके साथ का अभेद और ज़्यादा स्फुट हो जाता है, प्रकट हो जाता है।

अगल प्रश्न है कि वह आचार-व्यवहार कैसे करता है? 'यथा स्वस्यात्मनि प्रीतिः तथैव च परात्मनि।' जैसी उसकी अपने आत्मा में प्रीति वैसे ही वह दूसरे के साथ प्रेम करता है। प्रेम और काम की एक विशेषता है। कपड़े में थोड़ी सी खोंच लग जाये और उसको यदि सियें नहीं तो फटता ही जायेगा। इतना ही नहीं, सी

दोगे तो भी जब वह कपड़ा फटेगा तो वहीं से फटेगा। इसी प्रकार यदि जीवन में कभी प्रेम का स्पर्श हो गया तो धीरे-धीरे वह प्रेम बढ़ता ही जायेगा और अगर काम की खोंच लग गई तो धीरे-धीरे काम ही बढ़ता जायेगा। इसीलिये साधक को बड़ी सावधानी की ज़रूरत है। यदि परमात्मा से प्रेम करना शुरू कर दिया तो हो नहीं सकता कि अन्यत्र सर्वत्र वह प्रेम फैलने न लग जाये। यदि काम में फँस गये तो हो नहीं सकता कि आगे वह फैले नहीं। आदमी सोचता है कि 'इतनी कामना पूर्ण कर ली तो आगे कामना नहीं होगी', लेकिन ऐसा नहीं होता। वह तो एक के बाद दूसरी, बढ़ती ही जायेगी। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि 'इतना प्रेम करूँगा, आगे नहीं होगा' तो यह भी नहीं होने वाला है। प्रेम बढ़ता चला जायेगा। जब हम परमात्मा से प्रेम करेंगे तब हमारा प्रेम विस्तृत होता जायेगा। कितना विस्तार होगा ? तो कहा 'नमते यजते चैव आचाण्डालान्तमीश्वरं' चाण्डाल से लेकर ईश्वर पर्यन्त उसकी यह दृष्टि बनती चली जायेगी। चाण्डाल को भी नमन कर लेगा और 'यजते' उसे प्रसन्न कर देगा। यजते का अर्थ खाली आहुति देना नहीं है। जिसकी पूजा करते हो, उसके अन्दर 'कृतार्थोस्मीति या बुद्धिः'; जिसका यज्ञ करते हो, जिसकी पूजा करते हो, उसमें यह दृष्टि बन जाना कि 'इसने मेरा कोई कार्य कर दिया, प्रसन्नता हो गई' यज्ञ है। चाण्डाल से लेकर ईश्वर पर्यन्त उसकी ऐसी दृष्टि बन जाती है।

लेकिन उसके अन्दर यह सब करते हुए अहंकार का बीज नहीं रहता। 'अहंकारादिरहितो देहतादात्म्यवर्जितः' अहंकार उसमें नहीं आता। चाण्डाल का यजन करे, चाहे राजा को नमन करे,

लेकिन 'मैंने किया' यह दृष्टि उसमें नहीं आती, वरन् सोचता है कि 'भगवती ने मेरे देह आदि के द्वारा ऐसा करवा लिया।' लोग समझते हैं कि इसने किया, लेकिन उसको नहीं लगता कि 'मैंने किया।' वह सोचता है कि 'मैं तो अनादि काल से इस संसार में भ्रमण कर रहा था। यदि मुझ में करने की सामर्थ्य होती तो भगवती से मिलने से पहले कभी कहीं तो कुछ अच्छा काम कर लिया होता। उससे मिलने के पहले तो मैंने ऐसा कुछ नहीं किया जो आनंद देने वाला हो; दुःख दावाग्नि से ही तपता रहा। आज भगवती की प्राप्ति से यदि कुछ हो रहा है तो मैं नहीं कर रहा हूँ, वही मेरे ऊपर अधिकार करके मुझसे करवा रही है जिसके द्वारा हमें आनंद और अनंतता का साक्षात् अनुभव हो रहा है।' अहंकार का स्थल ही नहीं मिलता। उसको शरीर के साथ तादात्म्य नहीं रहता। शरीर को वह अपना अखण्ड स्वरूप नहीं मानता। वह अपना अखण्ड-स्वरूप भगवती को ही मानता है कि 'मेरा असली स्वरूप तो भगवती ही है।' देह के साथ उसका तादात्म्य सर्वथा हट जाता है। यह आत्मबुद्धि की दृष्टि है।

देह-तादात्म्य जब तक रहता है तब तक इस अनंत आनंद रूप की प्राप्ति नहीं होती। जब तक देह का भान है, तब तक असीम आनंद नहीं मिलता। असीम आनंद तभी मिलेगा जब शरीर के भान को भूल जाओगे। उसके पूर्व जो भी अनंद होगा, ससीम होगा। शरीर के द्वारा ही शरीररहित में पहुँचना है। पहले ससीम आनंद ही मिलेगा। लोग ग़लती यह करते हैं कि वे समझते हैं कि शुरू में ही हमें असीम आनंद मिलेगा, लेकिन उन्हें असीम तो क्या ससीम भी नहीं मिलता है ! जिस समय देह, अहंकार

का भान है, इन सब के भान से प्रारंभ करेंगे तो प्रारंभ ससीम आनंद से होगा। जैसे-जैसे गति परमात्मा के अन्दर तीव्र-तीव्रतर होती जायेगी, और अंत में जाकर देह का भान भूलेंगे उस समय असीम आनंद की प्राप्ति होगी। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इसीलिये कहते हैं कि आत्म-ज्ञान भोजन की तरह है। यदि कोई कहे कि एक कौर खाने से भूख मिट जाये, इतना ही खायेंगे कि खाते ही प्रसन्नता या तृप्ति हो जाये, तो ऐसा नहीं होगा। जितना छोटा-छोटा कौर खाओगे और भोजन को जितनी देर तक करोगे उतना ही भोजन का आनंद अधिक होगा और तृप्ति को प्राप्त करोगे। बहुत से लोग इस बात को न जानने के कारण ही उपासना के साम्राज्य को भूल जाते हैं। कहते हैं, 'सीधे निर्विकल्प समाधि में लीन हो जायेंगे।' लेकिन, ससीम आनंद के द्वारा उप अर्थात् समीप बैठते-बैठते अंत में उसमें लीन होना है।

कालिदास के जीवन की कथा आप लोग जानते ही हैं। बचपन में कालिदास मूर्ख ही नहीं, महामूर्ख थे। महामूर्खता का लक्षण भी बता दिया कि कालिदास क्या करते थे : उस देश में एक राजकन्या थी जो पढ़-लिखकर विद्वान् बन गई, इसलिये उसकी उपाधि ही हो गई विद्यावती। विद्यावती ने कहा 'मैं उससे ब्याह करूँगी जो शास्त्रार्थ में मुझ से जीत जाये।' उसकी दृष्टि थी कि 'जो मुझ से प्रबल हो, और मुझे जीत ले, उससे विवाह करूँगी।' बहुत से पण्डित वहाँ पहुँचे लेकिन विद्यावती जहाँ दो-चार प्रश्न करे, वे हार जायें और वहाँ से भाग जायें। उसके सामने कोई टिक नहीं पाया। अंत में पण्डितों के मन में बड़ा गुस्सा आया कि 'यह हम सब लोगों का अपमान करती है इसलिये इसी को

मूर्ख बनाओ।' जो भी सबसे गया-बीता महामूर्ख हो, सब पण्डित लोग उसे ढूँढने चले। जाते हुए एक जगह देखा कि एक लड़का जिस डाल पर बैठा है उसी डाल को काट रहा है ! उन्होंने उससे कहा 'यह क्या कर रहे हो ? डाल कट जायेगी तो नीचे गिर पड़ोगे।' उसने कहा—'इसीलिये तो खड़ा हूँ कि यह कट जायेगी तो नीचे नहीं उतरना पड़ेगा।' महामूर्ख जो रहा ! वह अपने आप ही नीचे गिरने को पहले ही तैयार है। उन्होंने उससे कहा 'तेरा ब्याह राजकन्या से करवायेंगे। लेकिन एक शर्त है कि वहाँ चलकर तू कुछ बोलना नहीं।' वह मान गया। उसे बढ़िया कपड़े पहना कर, पाग बाँधकर, भस्मी इत्यादि लगाकर ले गये और कहा 'ये हमारे गुरु जी हैं, लेकिन हमेशा मौन रखते हैं।' विद्यावती से कहा कि 'संकेत से ये तुम्हारे प्रश्नों का जवाब देंगे।' विद्यावती ने उनके सामने एक अंगुली उठाई कि ईश्वर एक है। उस लड़के ने सोचा, 'यह कह रही है कि तेरी एक आँख फोड़ूँगी।' उसने दो अंगुलियाँ दिखाईं कि मैं तेरी दोनों फोड़ दूँगा ! विद्यावती ने शिष्यों से पूछा कि ये क्या कह रहे हैं ? उन्होंने कहा, 'पहले तुम बताओ कि तुम्हारा क्या तात्पर्य था।' उसने कहा 'ईश्वर एक है, यह मेरा भाव था।' उन्होंने कहा—'ये कह रहे हैं कि ईश्वर है तो एक लेकिन जब तक शिव-शक्ति उभयरूप न हो तब तक सृष्टि नहीं होती। इसलिये द्रष्टा-दृश्य, ज्ञाता-ज्ञेय दोनों बना है।' विद्यावती ने कहा—'हैं तो पण्डित।' फिर विद्यावती ने पाँचों अंगुलियाँ दिखाईं। कालिदास ने सोचा, 'यह कह रही है कि तमाचा मारूँगी' इसलिये उसने अब के घूँसा दिखाया कि 'मैं भी ठीक कर दूँगा।' विद्यावती ने फिर शिष्यों से पूछा कि 'ये क्या कह रहे हैं ?' उन्होंने कहा,

'पहले तू बता।' उसने बताया 'मैंने तो पाँच के द्वारा यह कहा कि यद्यपि शिव-शक्ति रूप से दो हैं लेकिन जब तक वह पंचकोषों में बद्ध न हो जायें तब तक सृष्टिचक्र नहीं चलता।' उन्होंने कहा 'गुरु जी ने कहा है कि हैं तो पाँच कोष लेकिन जब तक वे पाँचों कोष मिलकर एक न हो जायें तब तक अलग-अलग कोष से काम नहीं चलेगा। अन्नमय कोष हो, प्राणमय न हो तो काम नहीं चलता और प्राणमय कोष हो, अन्नमय कोष न हो, जैसे सुषुप्ति में, तो भी काम नहीं चलता। एक का दो बनाया तो पाँच को एक भी बना दिया। तभी यह सृष्टि हुई।' विद्यावती ने सोचा 'यह सृष्टि-संहार उभय प्रक्रिया का ज्ञाता है, मैं इससे ब्याह करूँगी।'

पण्डितों ने उसका ब्याह उसके साथ कर दिया। वह बेचारी भोलेपन में फँस गई। ब्याह हो गया तो कालिदास ने वहाँ डटकर खाया। जाकर लेटा तो खुर्राटे भरने लगा। विद्यावती उसे जगाने की कोशिश करने लगी, संगीत आदि के द्वारा जगाने का प्रयास किया लेकिन वह समझा नहीं। अंत में उसने सोचा कि ऐसे नहीं उठ रहा है तो झकझोर कर उठा दिया। जैसे ही वह उठा, पास में एक ऊँट बिलबिला रहा था। उसने सोचा कि इसी ने जगा दिया होगा, इसलिये उसने कहा—'उट्र, उट्र।' सोचा 'कोई काम होगा तो ऊँट पर बैठा कर भेज रही होगी।' विद्यावती ने कहा 'मैंने इसलिये नहीं जगाया है, किसी और काम के लिये जगाया है।' लेकिन जब उट्र-उट्र शब्द उसने सुना तो सोचा कि यह उष्ट्र शब्द का शुद्ध प्रयोग नहीं कर पा रहा है, लगता है यह कुछ पढ़ा लिखा नहीं है ! और जो दो-चार वाक्य बोले तो वे भी सारे अशुद्ध थे। अब विद्यावती को आश्चर्य हुआ कि कहाँ फँस गई। विद्यावती

होने पर भी वह उस दुःख में अपने को सम्हाल नहीं पाई, नहीं तो उसे शिक्षा देती और आगे बढ़ा देती। लेकिन इतनी विलक्षण प्रतिभासम्पन्न वह नहीं थी कि आगे पढ़ा-लिखाकर उसे बढ़ा देती। उसने सोचा कि इससे किस तरह छुटकारा पाया जाये। वहीं उसे खिड़की से धक्का मारकर कहा कि 'तू इस ऊँट पर भाग जा, मुझे नहीं चाहिये।'

उसके हृदय में चोट लगी कि ब्याह होने पर औरत ने धक्का मार दिया। वहाँ से चला गया और जाकर काली की उपासना की। गुरु मिल गये। काली की उपासना के फलस्वरूप उसमें विद्या का प्रादुर्भाव हुआ। गुरु जी ने शिक्षा दी, बड़ा भारी विद्वान् बना। काली का उपासक होने से उसने अपना नाम कालिदास रखा। जिस तिथि को उसका विवाह हुआ था और रात्रि को जिस समय उसे विद्यावती ने भगाया था, उसी समय फिर वहाँ जा पहुँचा, दरवाज़ा खटखटाया। अन्दर से विद्यावती ने पूछा—'कौन है ?' कहा—'तेरा पति आया है।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'अब कुछ शुद्ध बोला है ! पहले की तरह बेवकूफी वाली बात नहीं कर रहा है। ठीक ढंग से बात कर रहा है।' पूछा—'कुछ पढ़ लिखकर आये हो ? 'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः' क्या कुछ विशेष पढ़कर आये हो।' कहने लगा 'तूने तीन शब्द बोले हैं। इन्हीं शब्दों को लेकर तीन महाकाव्यों की रचना करूँगा। 'अस्ति' शब्द से कुमार-संभव, 'कश्चित्' से मेघदूत, 'वाक्' से रघुवंश—इस प्रकार तीन शब्दों से प्रारंभ कर काव्यों को पूर्ण किया तो विद्यावती प्रसन्न हो गई और अपने को धन्य अनुभव करने लगी।

यह केवल कालिदास की कथा नहीं समझना। जीव स्वभाव

से ही जड और मूर्ख है। भगवती स्वभाव से ही विद्यानिधान, विद्यावती है। यह जीव अपने आपको कालिदास की तरह साधना-पथ की तरफ ले जाये बिना सीधे संवित् भगवती से विवाह करता है तो धक्का खाता है ! अपने अंतःकरण को सर्वथा शुद्ध बनाकर भगवती के बैठने लायक बनाना पड़ेगा। भगवती जहाँ बैठेंगी वहाँ कुछ तैयारी करनी पड़ेगी। जैसा कि पहले बताया, अन्तस्तल को समप्रदेश बनाना है, ऊँचा-नीचा नहीं। वह स्थल एक जैसा तब होगा जब हम साधना के द्वारा अपने अंतःकरण को सम बना लेंगे। तब तो उसके ऊपर भगवती का नित्य निवास होगा। यदि ऐसा साधना करके अंतःकरण को सम नहीं बनाया तो जैसे कालिदास ने धक्का खाया, वैसे ही हमें भी खाना पड़ेगा। लेकिन पहले ही बताया कि भगवती करुणामयी है। विद्यावती ने धक्का मारा और काली ने उसे शिक्षा दी। इसके द्वारा रहस्य बताया कि यदि तुम भगवती को भोग्या समझते हो तो धक्का खाते हो। यदि उसे काली अर्थात् माता समझते हो तो वह तुम्हारा पोषण करके तुम्हें आगे बढ़ाती है। यह विद्यावती और काली का फर्क बता दिया। इतना ही नहीं, तुम सोये पड़े हो। कालिदास सोये थे उसे विद्यावती जगाती है। जीव भी सोया पड़ा है। प्रलय काल में जीव सोया पड़ा है। यह सारी सृष्टि-रचना विद्यावती ने इसलिये की थी कि तुम अपने स्वरूप में जगो, लेकिन तुमने जगते ही इसे भोग का साधन मान लिया। इसीलिये इतने सारे कष्ट भोगने पड़े।

अंत में जब विद्या प्राप्ति हो जाती है तब तुम्हारे आत्म-ज्ञान में कोई वैशिष्ट्य आता है। सर्वप्रथम 'कुमारसंभव' की रचना की।

'कुत्सितो मारः कुमारः' जिसने काम देव को नष्ट कर दिया उसे कुमार कहते हैं। छोटे बच्चे को कुमार इसलिये कहते हैं कि उस पर काम देव का ज़ोर नहीं चलता। मनुष्य पर भगवती की कृपा हो तो सर्वप्रथम काम को जीत लेता है। मेघूदत का प्रारंभ 'कश्चित्' से है। जो चित् तत्त्व है उसे जान लिया। जैसे वहाँ बादल को दूत बनाकर भेजा था वैसे यहाँ चित् तत्त्व ही दूत है। जीव और परमात्मा दोनों में चित् तत्त्व एक है। तब 'वाक्' (रघुवंश) को बनाता है। रघुवंश के अन्दर वाक् से प्रारंभ करके प्रथम श्लोक ही शिव-शक्ति के ऐक्य को बताता है कि वाणी और अर्थ जैसे अभिन्न होते हैं, वैसे ही पार्वती-परमेश्वर अभिन्न हैं। कहने को रघुवंश में अनेक लोग हुए, लेकिन सारे मिलकर एक रघुवंश हुए। अतः वह भिन्न और अभिन्न को बताता है। इन तीन काव्यों के बाद कालिदास की सर्वश्रेष्ठ रचना हुई अभिज्ञानशाकुन्तल। तब प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'वही ब्रह्म मैं हूँ।' 'अभिज्ञान' अर्थात् याद आना। तभी जीव-ईश्वर की एकता होकर निरंतर उसमें स्थिति हो जाती है। इसी के आधार पर अभिज्ञान-शाकुन्तल की रचना हुई। यह आभ्यंतर पूजा का प्रकार हुआ। इसी आभ्यंतर पूजा के स्वरूप पर आगे विचार करेंगे।

ॐ

प्रवचन-९

पूजा के दो प्रकार—बाह्य पूजा और आभ्यंतर पूजा—बताये। आभ्यंतर पूजा के सामान्य स्वरूप पर विचार किया। आभ्यंतर पूजा दो प्रकार की है। सूत-संहिता बताती है—

'पूजा याऽभ्यंतरा सापि द्विविधा परिकीर्तिता।

साधारा च निराधारा निराधारा महत्तरा।।'

आभ्यंतर पूजा दो प्रकार की है—साधारा और निराधारा। जिसमें किसी आधार को लिया जाये, वह साधार पूजा है और जिसमें किसी आधार का सहारा न लिया जाये, वह निराधार पूजा होती है। 'निराधारा महत्तरा' निराधारा पूजा साधारा पूजा से अधिक महत्त्व वाली है। जैसे बाह्य पूजा में तमोगुणी से रजोगुणी और रजोगुणी से सत्त्वगुणी पूजा श्रेष्ठ है, वैसे ही आभ्यंतर पूजा में साधार से निराधार पूजा श्रेष्ठ है। अंतःकरण में यदि किसी बिम्ब को ग्रहण करके उपासना की जाती है तो उसे साधार पूजा कहते हैं। यदि अंतःकरण में किसी बिम्ब हो ग्रहण नहीं किया जाता तो उसे निराधार पूजा कहते हैं।

बिम्ब पुनः दो प्रकार के हैं : मनुष्य के जितने ज्ञान हैं वे मूल रूप से दो प्रकार के हैं—रूपात्मक और शब्दात्मक। हमें किसी चीज़ का या तो रूप याद आता है या उसका शब्द (नाम) याद आता है। इसलिये ब्रह्माण्ड के कारणों का जहाँ विचार किया वहाँ

नाद और बिन्दु दो शब्दों का प्रयोग है। नादात्मक या शब्दात्मक सृष्टि नाद से उत्पन्न होती है और रूप वाली सृष्टि बिन्दु से उत्पन्न होती है। अपने हृदय के अन्दर रूपात्मक बिम्ब है या नादात्मक बिम्ब है, इस भेद से दो भेद हो जाते हैं—नाद-बिम्बरूप और बिन्दु-बिम्बरूप। इनमें बिन्दु की अपेक्षा नाद श्रेष्ठ है।

यदि नाद के बिम्ब तक पहुँचना है तो बिन्दु के बिम्ब से प्रारंभ करना पड़ेगा। इसका कारण है। मानव हृदय, शब्द की नित्यता और रूप की अनित्यता को जानने पर भी रूप की कल्पना के बिना शब्द की कल्पना में स्थिति नहीं रख सकता। जैसे 'मैं धनी हूँ'—यह शब्दज्ञान तो नित्य है लेकिन जब तक इसका अर्थरूप खनाखन रुपया बैंक में या जेब में नहीं है तब तक 'मैं धनी हूँ' यह नादात्मक बिम्ब अंतःकरण में कुछ सुख नहीं देता। पास में एक कौड़ी नहीं है लेकिन अंतःकरण का बिम्ब उठ रहा है कि 'मैं करोड़पति हूँ' तो उस भाव में कोई स्थित नहीं रहता। जानते हैं कि रुपया अनित्य है, शब्द नित्य है लेकिन शब्द सुख नहीं देगा। इसलिये बिन्दु से प्रारंभ करके ही नाद-बिम्ब में प्रवेश संभव है। मानव हृदय स्वभावतः रूप को शब्द की अपेक्षा अधिक सत्य मानता है, भले ही वह सत्य है नहीं। जहाँ तक बिम्बरूपता है, चाहे आभ्यंतर बिम्बरूपता ही है, वहाँ तक प्रतीक-बाहुल्य रहेगा। इसीलिये अनंत प्रकार की ध्यान-मूर्तियाँ शास्त्रों में बताईं।

भगवती का ध्यान बताते हुए आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं—

'श्रीमत्सुन्दर-नायकीं भयहरां ज्ञानप्रदां निर्मलां,

श्यामाभां स्मितदन्तपंक्तिरुचिरां तत्त्वस्वरूपां शिवाम्।

वीणावेणुमृदङ्गवाद्यरसिकां कारुण्य-वारांनिधिं,

बिम्बोष्ठीं शिववामभागनिलयां ध्यायेज्जगन्मोहिनीम्।।'

यह ध्यान का एक स्वरूप है। प्रायः दो प्रकार के ध्यान मिलते हैं। एक ध्यान में इष्ट के रूप का वर्णन होता है। जैसे बताया कि 'भगवती के मुख में ताम्बूल है, आँखों में काजल, ललाट में कुंकुम, गले में मोतियों की माला है। कमर में साड़ी को बाँधने वाला सोने का कमर-बंद है।' यह सारा रूपात्मक वर्णन है। यह एक प्रकार का ध्यान है। ऐसे अनेक ध्यान हैं। कुछ ध्यान ऐसे होते हैं जिनमें इष्ट तत्त्व का वर्णन होता है। जैसे 'शब्द-ब्रह्मरूपिणी है, तत्त्वरूपिणी है, चर-अचरमयी है।' इसके अन्दर *रूप* तो है लेकिन वह रूप आकार वाला नहीं है। इस तरह दो प्रकार के ध्यान मिलते हैं—१) जिनमें केवल विग्रह (प्रतिमा) का वर्णन है और २) जिनके अन्दर उसके तत्त्व (स्वरूप) का वर्णन है। लेकिन 'श्रीमत्सुन्दरनायकी' इस श्लोक के निर्माण में दोनों मिलाये गये हैं। यही इसकी बिम्बात्मकता को प्रधान बनाता है।

सबसे पहले भगवती का रूप बताते हुए कहा—'श्रीमत्सुन्दर-नायकी' वह भगवती सुन्दर और नायकी है। नायक वह है जो सबसे आगे चले। उसी का स्त्रीलिंग 'नायकी' प्रयोग यहाँ है। वह सुन्दर है और सुन्दरता में सबसे आगे चलने वाली है। लेकिन यहाँ एक अर्थ और है कि परम सुन्दर शिव की वह नायिका है। यहाँ स्वरूप का वर्णन किया। सुन्दर मायने क्या ? प्रायः मनुष्य सुन्दरता का अर्थ आँख, कान, नाक इत्यादि का अच्छा होना लगाता है

लेकिन यह सुन्दरता नहीं है। सुन्दरता का अर्थ करते हुए रसवेत्ताओं ने बताया है 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति' सुन्दरता का लक्षण है कि क्षण-क्षण में नवीन होती चली जाये ! यह सुन्दरता का लक्षण है कि एक जैसा न रहकर प्रतिक्षण बदलते जाना। यदि विचार करो तो वह परब्रह्म-महिषी प्रतिक्षण नवीन होती जाती है। कभी सूर्योदय या सूर्यास्त काल में आकाश देखते हुए बैठ जाओ तो एक-एक क्षण में रूप, रंग और आकार बदलते चले जाते हैं। दो दिनों की संध्या कभी एक जैसी नहीं होती। संसार में इतने प्राणी हैं, कोई दो प्राणी एक तरह के नहीं हैं। प्राणियों की क्या बात, अंगुली के अन्दर होने वाले निशान भी दो प्राणियों के एक जैसे नहीं ! पुलिस उसी से चोर पकड़ लेती है। यही परब्रह्म महिषी की नवीनता है। कभी कोई कार्य वह एक क्षण में करने में समर्थ है तो कभी उसी कार्य को करने में वह अनंत काल भी लगा देवे। यह उसकी क्षण-क्षण की नवीनता है। खेतों के अन्दर कभी रिमझिम-रिमझिम पानी बरसता रहे तो खेत अच्छी तरह से सारा पानी पी जाते हैं, फिर भी पानी ऊपर नहीं दीखता; धीरे-धीरे वृष्टि हो तो ऐसा होता है। किसी काल में चारों तरफ धूप और गर्मी पड़ रही है। सोचते हो कि 'यदि बादल आ जायें तो अच्छा हो, कुछ छाया हो जाये, ठण्डक हो जाये।' आकाश की तरफ देखते हो लेकिन कोई आशा नहीं दीखती। बीच-बीच में कभी थोड़ी बादल की छाया दीखी और आशा हुई भी कि शायद वृष्टि हो जाये, लेकिन उसी समय हवा का ऐसा झोंका आया कि बादल किधर चला गया पता ही नहीं चला। धूप की गर्मी है, बड़ी इच्छा है कि कुछ वृष्टि हो जाये, लेकिन वृष्टि का क्या ठिकाना, बादल

ही दिखाई नहीं पड़ते, न जाने कहाँ चले गये। अकस्मात् न जाने कहाँ से, जबकि संभावना भी नहीं थी, संकल्प नहीं था, बादल आ जाते हैं। बिना किसी कारण के झट बादल आये और पहले ही कुछ क्षणों में इतनी वृष्टि हो गई कि सड़कों में पानी बहने लग गया ! कभी रात्रिभर रिमझिम-रिमझिम पानी बरसा फिर भी खेत भरा नहीं दीखता, सारा पानी चूस लिया, और कभी क्षण मात्र में इतने ज़ोर की वृष्टि हो गई कि खूब पानी ही पानी दीखता है। यह भगवती की अनंतता है। इसका निरूपण नहीं कर सकते।

मनुष्य को नई चीज़ से भय लगता है, यह स्वाभाविक है। किसी नये मकान में चले जाओ तो डर लगता है। दो आदमी हों तो कहते हैं कि 'इतना बड़ा मकान है, डर लगता है।' कुछ समय उस मकान में रह जाओ तो कुछ नहीं होता। नौकर भी चले जाते हैं तो कोई भय की बात नहीं है। नये मकान में प्रवेश करते समय भय लगता है। जब उस मकान से परिचय हो गया तब कुछ भय नहीं लगता, विश्वास बढ़ जाता है। उस परब्रह्ममहिषी का सौन्दर्य ऐसा है कि प्रतिक्षण नई होती जाती है तो नई चीज़ से भय लगना चाहिये, लेकिन भगवती की यह विशेषता है कि 'भयहरां' उसके क्षण-क्षण में नवीन होने पर भी भय नहीं लगता, उल्टा भय का हरण हो जाता है। अन्यत्र तो नवीन चीज़ से भय और यहाँ हर क्षण नवीनता अधिक होने पर भी भय दूर हो जाता है, यही उसकी विशेषता है। संसार के अनंत रूपों के पदार्थ दीखते हैं लेकिन उनसे भय नहीं होता।

जो चीज़ सुन्दर होती है वह प्रायः मोह में डालती है। सुन्दरता की यह विशेषता है। इसके कारण का संकेत करेंगे। सुन्दर पदार्थ

चित्त के अन्दर आनंदाकार वृत्ति को उत्पन्न करता है। आनंदाकार वृत्ति (सुख) ब्रह्म का रूप है। सुन्दरता के सामने आनंदाकार वृत्ति बनकर चित्त स्तब्ध हो जाता है। लेकिन ब्रह्म के दो रूप हैं—आनंद और अनंत। आनंद से स्तब्ध हुआ चित्त फिर अनंतता की तरफ नहीं जाता, वहीं अटक जाता है। यही मोह है। सुन्दरता के एक रूप में इतना अटक जाता है कि उसके भिन्न रूपों की तरफ प्रवृत्ति नहीं करता। यही उसके मुग्ध होने का कारण है। जैसे ही रूपान्तर दीखा तो वह प्रथम रूप की मुग्धता के कारण अग्रिम रूप की कल्पना के आनंद को नहीं ले पाता। पहले का आनंद दूर हो गया। उस आनंद के दूर होने का जो दुःख है उसे याद करते हुए इस क्षण के सुख को नहीं ले पाता। होना यह चाहिये कि उपस्थित का आनंद ले। अनुपस्थित की स्मृति से उपस्थित के सुख को हाथ से नहीं जाने देना चाहिये, तब ज्ञान होगा। लेकिन संसार में यह नहीं होता। हम निरंतर उन दुःखों की कल्पना करते रहते हैं जो पहले थे या अब हैं। भगवती विद्याशक्ति की विशेषता यह है कि उस अत्यंत लावण्य के परिवर्तित होने पर भी, अनंत आनंद रूपों के परिवर्तित होने पर भी, उसकी एकरूपता, एकसूत्रता का ज्ञान होने से मोह नहीं होता।

संसार के बाकी सब पदार्थों में मल रहता है। केवल वह संवित् परब्रह्ममहिषी ऐसी है जिसके अन्दर मल का स्पर्श भी नहीं है। अज्ञान का स्पर्श संवित् में नहीं है। कहोगे कि 'आखिर उस संवित् के अन्दर ही हम अज्ञान की कल्पना करते हैं', परन्तु संवित् में अज्ञान की कल्पना भी अज्ञान से ही है ! उससे अज्ञान का स्पर्श नहीं है क्योंकि वह तो परम निर्मल है। इसीलिये भगवान् सर्वज्ञात्म-

महामुनि लिखते हैं 'मोहं च कार्यं च बिभर्ति मोहः तथैव मोहान्तरमन्तरेण।' माया के कारण ही हम स्वतः अपने को ब्रह्म में कल्पित करते हैं और अपने अन्दर जगत् की कल्पना भी करते हैं। इसमें न्याय का दृष्टांत है कि घड़ा कपड़े से अलग है अर्थात् घड़े में कपड़े का अलगाव है। कोई चीज़ है जो घड़े को कपड़े से अलग करती है। नैयायिक इसे अन्योन्याभाव कह देते हैं, हिन्दी में इसी को अलगाव कहते हैं। अलगाव नाम की कोई चीज़ हुई जो उसको उससे अलग करती है। घड़े में अलगाव घड़े से अलग है या नहीं ? अगर अलग है तो फिर घड़े में कपड़े के अलगाव का अलगाव भी रहेगा और उस अलगाव में फिर अलगाव रहेगा! यों अनंत अलगाव मानने पड़ेंगे जिसे अनवस्था कह देते हैं, यह विचारप्रक्रिया का दोष माना गया है। अतः नैयायिक निर्णय देते हैं कि घड़े में कपड़े का अलगाव रहेगा, पर वह स्वतः भी अपने आप को अलग रखते हुए रहेगा, अतः और कोई अलगाव मानने की ज़रूरत नहीं है। इसी प्रकार माया ब्रह्म में रहेगी और वह माया ब्रह्म में रहते हुए माया से ही रहेगी अतः उस संवित् की निर्मलता है। दिखाई तो देता है कि उसमें अनेक मल हैं, सारे संसार के मल वहीं दिखाई देते हैं, लेकिन स्वतः उसका स्वरूप सर्वथा निर्मल है।

अब उसका रूपात्मक बिम्ब सामने कर दिया—'श्यामाभां स्मितदन्तपंक्तिरुचिराम्।' उसकी आभा कैसी है ? उसका शरीर श्याम वर्ण का है। भगवती का वर्ण साँवला माना गया है। इसीलिये उसे काली भी कहते हैं। साँवले रूप की अपनी विशेषता है। एक प्रसिद्धि है, जो पुराणों में नहीं है। आखिर शरीर तो मिट्टी का बना

हुआ है। जब भगवान् ने सृष्टि प्रारंभ की तब उसने मनुष्य की मूर्ति पहले-पहल बनाकर सेकने के लिये आँवें में रख दी। थोड़ी देर उसमें रखकर जब बाहर निकाली तो कुछ कच्ची रह गई, पूरी नहीं पकी थी। कच्ची रह जाने से उसका रंग गोरा हो गया। भगवान् ने सोचा कि यह भारत भूमि के लायक नहीं है, इसलिये उन्होंने उसे योरोप देश में फैंक दिया। दूसरी बार पकाया तो ज़्यादा देर तक पकाने से काले रंग का निकल आया। सोचा यह भी यहाँ के लायक नहीं है तो उसे दक्षिण अफ्रीका में भेज दिया। अब भगवान् को कुछ बनाने का अनुभव हो गया। तीसरी बार आँवें में रखकर निकाला तो ठीक रंग का निकला, न ज़्यादा काला और न ज़्यादा गोरा। भगवान् ने कहा, 'यह ठीक है, इसे यहीं रखो।'

इस कथा के द्वारा खाली मनुष्य का वर्णन नहीं समझ लेना। चित्त दावाग्नि में कम पका हुआ है। संवित् में दोनों रंग मिले हुए हैं। इसी प्रकार भगवान् शंकर का रूप शुद्ध स्फटिक की तरह है। यह केवल द्रष्टा के रूप को बताता है। द्रष्टा का अपना कोई रूप नहीं होता। जैसा दृश्य सामने आयो, वैसी ही उसकी वृत्ति बनती जायेगी और द्रष्टा उसके अन्दर प्रकाश डालता जायेगा। इसलिये तो शंकर शुद्ध स्फटिक की तरह हैं। दूसरी तरफ अविद्या का रूप बिल्कुल ही काला है, अशुद्ध है, राग, द्वेष आदि सारे दोषों वाला है। आत्मविद्या सर्वथा शुद्ध तो नहीं है, सारे दोषों से अस्पृष्ट अवस्था नहीं है। न वह अविद्या है इसलिये काली भी नहीं है। उसमें दोनों रंग मिले हुए हैं। इसीलिये भगवती का साँवला रूप माना गया है।

'स्मितदन्तपंक्तिरुचिरां'—यह प्रतीक बिम्ब बन रहा है। उनके दाँत अत्यंत सुन्दर हैं और हँसने के कारण उसमें से ज्योत्स्ना (लावण्य) निकल रही है। स्मित अट्टहास नहीं बल्कि मुस्कराना है। आदमी तभी मुस्कराता है जब चित्त में प्रसन्नता होती है। वह हमारे ऊपर इतनी कृपाशीला है कि हमेशा ही उसका मुख मुस्कराहट वाला है। यदि हम अच्छी क्रिया और बढ़िया करते हैं तो वह इसलिये मुस्कराती है कि 'मेरे प्रिय बच्चे ने देखो कैसा अच्छा काम किया है।' इसलिये उसमें स्मित है। हम ग़लत काम करते है तो भी हँस देती है। जैसे छोटा बच्चा कोई ग़लत काम करे तो माँ को हँसी आ जाती है, कोई असम्बद्ध बात बोल दे तो भी हँसी आ जाती है। विदूषक (हँसी मज़ाक करने वाले) का कार्य ही यह है कि किसी अत्यंत विरुद्ध बात को दिखा देता है। सारे मज़ाकों का मूल तो यही है कि कुछ विरुद्ध बात हो। इसलिये जो हास्य रस का रसिक नहीं होता, उसके साथ यदि मज़ाक करो तो अपना मज़ाक बन जाता है। हास्य का मूल है किसी विरोधी तत्त्व का प्रतिपादन कर देना। यदि तुम उसको कसौटी पर कसोगे तो हास्य रस की निष्पत्ति नहीं होगी, फिर तो लड़ाई-झगड़े की बात हो जायेगी !

इसलिये जो हास्य समझता है, उसी के साथ हास्य हो सकता है क्योंकि हास्य में विरोधी तत्त्व तो हमेशा रहना है। हँसी कहाँ आती है ? एक आदमी बढ़िया सुन्दर कपड़े पहनकर ऐंठ कर जा रहा है, केले के छिलके पर पैर पड़ा और धड़ाम से गिर पड़ा। ऐंठ कर चला, गिरा, इस पर हँसी आती है। लेकिन कोई लंगड़ा गरीब धीरे-धीरे जा रहा है, उसका पैर फिसल जाये तो हँसी नहीं

आती, दया आती है। हँसी का मूल ही विरुद्ध धर्म है। इसी प्रकार जब हम ग़लती करते हैं तब भगवती को हास्य की हँसी आ जाती है और यदि हम ठीक करते हैं तो शाबाशी की हँसी आ जाती है। लेकिन उसकी मुस्कराहट कभी नहीं हटती।

दाँत बत्तीस होते हैं। जहाँ तत्त्वों का विचार आया है, वहाँ कुल तत्त्व छत्तीस माने हैं। शैवागमों में इतने तत्त्व बताये हैं। उन के अन्दर तीन तत्त्व सर्वथा अस्पृष्ट हैं—अनुत्तर तत्त्व, परम शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व। इसलिये तैंतीस तत्त्व बच जाते हैं जो संसार के काम के हैं। संसार अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त इतने ही अपने यहाँ देवता हैं, यह शतपथ ब्राह्मण में बताया। पूर्वोक्त तीन तत्त्व देवताओं से भी अलग हैं। इन तैंतीस में एक प्रजापति (हिरण्यगर्भ) है जो बत्तीस का शासक ईश्वर है। इसलिये हम लोगों के काम आने वाले तत्त्व बत्तीस रहे, तैंतीसवाँ तत्त्व शासन करने वाला ईश्वर है। इन बत्तीस दाँतों के द्वारा भगवती हँसती है अर्थात् जितना भी प्रतीयमान जड-चेतन संसार है सब उसका हास्य है। यदि वह न हँसती होती तो हमें भी संसार की प्रतीति न होती, हम भी ईंट-पत्थर की तरह जड हो जाते। हमारी चेतनता उसकी हँसी-मूलक है।

कोई भगवती के 'स्मितदंतपंक्तिरुचिरा' इस स्वरूप को न समझे तो आगे स्पष्ट कर दिया—'शिवां' वह हमेशा कल्याण ही करती है। उसकी कल्याणरूपता हमेशा अक्षुण्ण रहती है। इसी कल्याणरूपता को लेकर नाद-बिम्ब को स्पष्ट करते हैं। है तो रूप का बिम्ब, लेकिन नाद की ध्वनि देता है। 'वीणा-वेणु-मृदंग-वाद्य-रसिकां' वीणा, वेणु, और मृदंग इत्यादि जो वाद्य हैं, उनकी

स्वरलहरियों में वह रसवाली है। 'रसिका' नाद के बिम्ब को बताने के लिए है। 'कारुण्यवारांनिधिं' वह करुणा का समुद्र है। पहले रूपप्रधान बिम्ब बताया, अब शब्द-प्रधान बिम्ब बताया। रूप से ही मनुष्य फिर शब्द (नाद) में जाता है। जब नाद में पहुँचता है तब उसकी दृष्टि ही दूसरी बन जाती है।

एक प्राचीन इतिहास है। दक्षिण भारत में चित्रदुर्ग नाम का एक स्थान है। वहाँ वेंकटसुबैया नाम के बड़े अच्छे संगीत के जानकार हुए हैं। सुबैया का शुद्ध संस्कृत रूप सुब्रह्मण्यम् होता है। वे संगीत के बड़े विशारद थे। अब भी उनकी मूर्ति वहाँ बनी हुई है। लेकिन वे संगीत का कार्य भगवती की उपासना समझ कर करते थे। जब पहले-पहल उन्होंने संगीत शुरू किया था तब उनके गुरु जी ने यह बात बताई थी कि संगीत को हमेशा भगवती की आराधना समझना। वहाँ के राजा के यहाँ जाकर वे ज़रूर संगीत सुना देते थे लेकिन बाकी समय केवल साधना में ही लगे रहते थे। विशेषकर उनके जीवन में आता है कि उन्होंने भैरवी की बहुत साधना की और वह उन्हें सिद्ध हो गई थी। जब पचास वर्ष के हुए उस समय मन्दकरी नायकर नाम के राजा से कहा 'मैं अब पचास वर्ष का हो गया, अरण्य में जाकर रहूँगा।' राजा ने बहुत प्रार्थना की 'आप यहीं रहकर साधना करो। हम लोगों को भी कभी-कभी दर्शन हो जायेंगे।' राजा के साथ उनका बड़ा प्रेम था। उन्होंने राजा से कहा 'यहाँ रहूँगा लेकिन मेरा यह नियम रहेगा कि मैं अब मन्दिर से बाहर कहीं नहीं गाऊँगा।' इस प्रकार पचास वर्ष की उम्र में उन्होंने एक तरह से संन्यास ही ले लिया। उन्होंने नियम किया कि वहाँ नगर के मन्दिर में, मंगलवार और

शुक्रवार को जाकर गाना और बाकी दिनों में सायंकाल आरती के समय घर में गाना। जिसे सुनना हो, वह वहाँ पहुँच जाये। राजा स्वयं भी सुनने जाया करता था। इसी प्रकार दस वर्ष व्यतीत हुए।

उस समय हैदर अली भारत के अन्दर एक नवाब हुआ। उसने चित्रदुर्ग को जीतने के लिये चढ़ाई की। अनेक बार चढ़ाई की लेकिन उस दुर्ग को नहीं जीत सका। यह दुर्ग एक बड़े पहाड़ पर है। अंत में उसने उसी उपाय का अवलम्बन किया जो मुसलमानों के शासन में मुहम्मद साहब के जमाने से हमेशा से चला आया है। दुर्ग में रहने वाले मुसलमानों को ही उन्होंने फोड़ा। जब चढ़ाई हुई तब अन्दर के मुसलमानों ने दुर्ग के दरवाजे को खोल दिया। मन्दकरी नायकर ने जब देखा कि 'दुर्ग की रक्षा करने में असमर्थ हूँ' तब उसने सारी रानियों को बुलवाकर जलवा दिया और स्वयं राजकुमारों के साथ केसरिया कपड़ा पहन युद्ध के मैदान में उतर गया और लड़ते-लड़ते मर गया। पहले राजा जब देखता था कि 'मैं देश की रक्षा करने में असमर्थ हूँ' तब वह युद्ध करते हुए अपने प्राणों की बलि दे देता था। आज के राजाओं की तरह से हज़ारों मील भूमि के चले जाने पर उपदेश नहीं करता था कि 'बहुत साल हो गये, थोड़ी सी ज़मीन चली गई तो क्या हर्जा है।' हमारा पद, हमारी प्रतिष्ठा, हमारा नाम, हमारे पुत्रों का ऐश्वर्य स्थिर रहे, देश की भूमि गई तो गई, कुछ हर्जा नहीं। यह आजकल के राजा की स्थिति है। प्राचीन राजा यह नहीं मानता था। वे अपनी बलि दे देते थे। क्योंकि मानते थे 'यदि मैंने देश की रक्षा नहीं की तो मुझे राजा होने का कोई अधिकार नहीं।' यही मन्दकरी नायकर

ने किया।

हैदर का पुत्र टीपू था जिसे उसने वहाँ के दुर्ग का रक्षक बनाकर भेज दिया। वह बच्चा ही था, लेकिन उसे बड़ा घमण्ड था। जहाँ नायकर बैठा करता था, वहीं उसने भी अपना दरबार लगवाया। रहते-रहते दो-एक वर्ष हुए तो एक दिन उसकी बेगम ने कहा कि 'मेरी इच्छा है कि मैं वैंकट सुबैया का संगीत सुनूँ। उसकी बड़ी प्रशंसा सुनी है। यदि आपकी आज्ञा हो तो सुनने जाऊँ।' टीपू ने कहा कि 'इसमें क्या है, मैं उसे यहीं बुलवा दूँगा।' तब बेगम ने कहा कि 'मैंने यह भी सुना है कि वह मन्दिर के बाहर कहीं नहीं गाते।' टीपू हँस पड़ा, कहा 'तू जानती नहीं कि किसकी बेगम है, ये सब ऐसे ही बातें हुआ करती हैं।' अगले ही दिन टीपू ने कहा कि वैंकट सुबैया को बुलवा दो। सुबैया वहाँ आये। वहाँ का नियम था कि जो आये सो मुसलमानी ढंग से कोर्निश करे, सिर नीचा करके सलाम करे और सम्भव हो तो कुछ नज़राना पेश करे। मुसलमानी ढंग में ही बात-चीत करे। वैंकट सुबैया वहाँ पहुँचे तो न उन्होंने कोर्निश या सलामी की और न ही कोई नज़राना पेश किया। जाकर सीधे ही पूछा 'क्या काम है जो मुझे बुलाया है ?' टीपू को गुस्सा आया, मंत्री से कहने लगा—'इसे समझाइये कि यह कोई गाय-भैंस चराने की जगह नहीं है, यहाँ किस ढंग से पेश आना चाहिये।' सुबैया ने कहा 'यदि मुझे शिष्टाचार सिखाने के लिये यहाँ बुलाया है तो मुझे कुछ सीखने की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारा अपना शिष्टाचार है। अगर मैं मिलने आता तो कहते, तुमने मुझे बुलाया है और शिष्टाचार सिखा रहे हो !' टीपू को और गुस्सा आया। लेकिन गुस्से के साथ ही उसने सोचा कि कहीं

यह चला जायेगा तो कैसे काम चलेगा, उधर बीवी को कह आया था।

बेचारे ने कहा 'और कोई बात नहीं, शिष्टाचार सिखाने के लिये नहीं बुलाया, लेकिन बेगम की ख्वाहिश है कि आपका गाना सुनें। हम यहाँ इंतज़ाम करवा दें तो सुना दीजिये।' उन्होंने कहा—'मैं हर मंगलवार और शुक्रवार को मन्दिर में सुनाया करता हूँ। बेगम को सुनने की इच्छा हो तो वहीं आ जायें, मैं इंतज़ाम करवा दूँगा।' टीपू ने कहा—'वह वहाँ नहीं आ सकती, तुमको यहाँ आना पड़ेगा।' उन्होंने कहा—'नवाब साहब! आपने अब तक भगवती वाणी का लोकरंजन के लिये प्रयोग करते हुए नाचने वालों को देखा होगा। भगवती वाणी की मातृरूप से उपासना करने वालों को नहीं देखा होगा। मेरा सिर एक राजा के सामने झुका, दूसरे के सामने नहीं झुका। तुम समझते हो कि तुम बलवान् हो, लेकिन तुमने विश्वासघात करके राज्य लिया है, बलवान् नहीं हो। सोचते हो यह कार्य भी विश्वासघात से बन जायेगा। ऐसे तुम्हें राजा हम स्वीकार नहीं करेंगे। इस वाणी ने केवल भगवती की आराधना की है, यह दूसरी जगह गाने वाली नहीं है।' टीपू को और गुस्सा आया, कहा 'मेरी ख्वाहिश और फर्मान में फर्क नहीं हुआ करता।' सुबैया हँस पड़े, कहा—'मुझे पता है। लेकिन वाणी की उपासना करने वाले दो बातें मुँह से नहीं निकाला करते। यदि तुम अपने को देश का सुलतान समझते हो तो शरीर को ले सकते हो, लेकिन इससे गाना नहीं गवा सकते। वह तो भगवती की शक्ति है। वही सामने रहती है तो संगीत-लहरी उठती है। मैं आपके सामने बातचीत कर सकता हूँ, संगीत नहीं सुना सकता। कहोगे कि 'मैं

नवाब हूँ, जीभ कटवा दूँगा', तो अभी कटवा दो। शरीर पर तुम्हारा अधिकार है।' टीपू के अन्दर भय था, इसलिये ज़्यादा कुछ नहीं कहा, इतना ही कहा—'अच्छा, सवेरे तक विचार कर लो।' उन्होंने जाते हुए कहा 'मेरा विचार तो यही है ? तुम विचार कर लेना।' यह कहकर सुबैया वहाँ से चले गये।

चारों तरफ चित्रदुर्ग में हो-हल्ला मचा कि ऐसे भयंकर सुलतान के साथ सुबैया ने ऐसा व्यवहार किया। लोग उन्हें समझाने आये कि 'क्या हो गया ? एक बार गाने में क्या हर्ज़ है !' लेकिन वैंकट सुबैया तो वाणी के उपासक थे। शहर में ख़बर फैल गई। सब उनके भक्त थे। आ-आकर समझाने लगे। यहाँ तक कि मंत्री भी उनके दासप्पा नाम के मृदंगवादक के पास पहुँचे और कहा कि 'आप ही जाकर समझाओ।' दोनों मिलकर गये। दासप्पा से उनका बड़ा प्रेम था। दासप्पा ने कहा 'मंत्री आ गया है, सुना दो तो इसमें क्या हर्ज़ है?' उन्होंने कहा—'दासप्पा! तेरा दिमाग खराब हो गया है !' वज़ीर से पूछा 'तुम जुम्मे की नमाज़ कहाँ पढ़ने जाते हो ? मस्जिद में जाते हो या शौचालय में ? मेरी वाणी भी मेरी नमाज़ है।' दासप्पा ने बहुत कुछ कहा लेकिन वे नहीं माने। उल्टा उन्होंने खबर भेज दी 'सारे गाँव को खबर कर दो कि आज ठीक नौ बजे रात्रि को संगीत पूजा होगी, जिसको सुनना हो, आ जाये।' घर वालों ने घेरा कि 'हमारी बात मान लो। आप तो भक्त हैं, आपका भक्ति से सम्बन्ध है, लेकिन टीपू का कोप हमारे ऊपर होगा।' उनहोंने कहा—'घबराओ नहीं, कुछ नहीं होगा। यह भगवती ने हमारी परीक्षा ली है। कभी माँ गोद में बैठाकर दुलारती है और कभी बच्चा बनकर स्वयं गोद में खेलती

है ! कभी प्रेम देती है तो कभी परीक्षा का समय भी आता है। मैं इसमें अनुत्तीर्ण होने वाला नहीं हूँ।' घरवाले कहने लगे—'भाड़ में जाये, किसने देखा है देवी को?' सबने कहा 'तुम कैसे हो ? मान जाओ ?' लेकिन उन्होंने कहा 'एक बात बताओ। तुम लोग सोच रहे हो कि घर का क्या होगा और मैं सोच रहा हूँ कि माँ का क्या होगा ! मेरी वाणी में बैठी हुई शक्ति साक्षात् भगवती है। गवैये तो बहुत होते हैं। यदि मैंने सुलतान के सामने गाया तो मेरी माँ की आबरू नंगी होगी। उससे तो पहले मर जाना मुझे स्वीकार है। तुम घर की सोच रहे हो लेकिन आदमी अपनी माँ की आबरू की रक्षा करने के लिये घर को उजाड़ देता है।' लोग चले गये।

उस दिन उन्होंने डेढ़ सौ कलशों से स्नान किया। फिर पूजा करने बैठे। पुजारियों से कहा कि 'आज ग्यारह बजे जो जाना चाहे चला जाये। आज संगीत की कोई अवधि नहीं है कि कब ख़त्म हो। इसलिये आप अर्द्धरात्रि की आरती कर प्रसाद देकर लोगों को विदा कर देना, मेरे लिये आज कोई न रुके।' उन्होंने तानपूरा लिया। संगीत शुरू हुआ। आज का संगीत कुछ विशिष्ट था। जैसे प्रेम की गहराई में डूबा हुआ व्यक्ति जब कार्य करता है तब उसके कार्य में स्नेह होता है। जहाँ प्रेम की अधिकता होती है वहाँ क्रोध में भी स्नेह होता है। जिस प्रकार से अजस्र पीडा होती है, बादल बनकर आँखों में आँसू आ रहे हों, लेकिन बाहर न निकल रहे हों, उस समय की जो एक घुटन होती है, वह आज के संगीत का रूप था। ऐसा लगता था मानो विश्वास का वज्र स्तंभ मूर्तिमान् हुआ बैठा था। कभी-कभी संगीत की लहरी ऐसी

आती थी जैसे निराश वायु का बड़ा भारी झंझावात आ-आकर आशा के दीपक को चंचल कर जाता था। आज उसके संगीत में कुछ वैशिष्ट्य था। इष्ट दर्शन के लिये आकुल भक्त के अन्दर जो एक कातर भाव आता है, आज संगीत में वह स्फुट हो रहा था। इस प्रकार रात्रि के बारह बजे; एक बजा, अंत में लोगों को थकना ही था लेकिन संगीतज्ञ आज नहीं थक रहा था। उसके गानसौन्दर्य में आज अधिक-अधिकतर वृद्धि ही होती जा रही थी। कुछ लोग प्रसाद लेकर चले गये।

उस परम शान्ति में जो संगीत की गर्जना हुई, उसने टीपू की तंत्रियों को झकझोरा। वह सोया था। सोचा कल प्रातःकाल तक यदि यह नहीं माना तो जीत तो यह जायेगा। उसने संगीत के सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा सुन रखी थी। सोचा 'मेरे कान बिना संगीत सुने रह जायेंगे।' सवेरे के तीन बजे, उससे रहा नहीं गया। तब उसने एक सामान्य नागरिक के कपड़े पहने और एक अंगरक्षक को साथ लेकर वहाँ पहुँचा। बाहर खड़ा था, संगीत सुनकर मंत्र-मुग्ध हो गया। अन्दर जाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। इधर ब्राह्म मुहूर्त हुआ। वह समझे कि कौन बोल रहा है, इससे पहले ही अन्दर से एक औरत की चीख सुनी, दरवाज़ा गिरा। अन्दर जाकर देखा तो स्तब्ध रह गया। राजराजेश्वरी की स्वर्ण मूर्ति जाज्वल्यमान हो रही थी। वहीं थाल पर खून से लथपथ जीभ पड़ी थी। वैंकट सुबैया मूर्च्छित पड़े थे। टीपू घबराया। मन्दिर में जाने का साहस नहीं हुआ। उसने अंगरक्षक को भेजकर हकीम को बुलाया। भगवती के कुंकुम से ही जीभ को बंद किया। खून निकल रहा था। तब तक लोगों ने पहचाना कि सुल्तान आया हुआ है। पूछा 'आप

कैसे ?' उसके नेत्रों में पानी आ गया। जो भयंकर शत्रुओं को मारते थोड़ा नहीं हिला, वह भी आज हिल गया। कहने लगा—'आपने प्रातःकाल तक मुझे कुछ करने का मौका क्यों नहीं दिया ?' वैंकट सुबैया ने खड़िया से लिखकर बताया—'राजन्! तुम्हारा विचार बदलता या नहीं बदलता, मुझे इसका भय नहीं था। मुझे स्वयं अपने से भय था कि कहीं ऐसा न हो जाये कि घर वालों के स्नेह से मैं फिसल न पड़ूँ। संभव है कि तुम यही कह देते कि 'आज तुम्हारे सारे राज्य को पुनः छोड़कर स्वतंत्र बनाता हूँ, तुम गाना सुना दो।' उस समय कहीं राष्ट्र प्रेम और मातृ-प्रेम के संघर्ष में मैं कहीं माँ को नंगा न कर दूँ। न जाने कौन-सा प्रलोभन आ जाये, इसी का मुझे भय था। यह तो मेरे पास भगवती की एक थाती थी। मेरा इस पर अधिकार नहीं था। मैंने उसे आज भगवती के अर्पण कर दिया। अब मुझे कोई भय नहीं है। मेरा दिमाग भी खराब हो जायेगा तो कोई बात नहीं। इसकी भगवती रक्षक थी।' टीपू बड़ा दुःखी हुआ कि संसार से इतने बड़े संगीतज्ञ को मैंने विदा कर दिया। उन्होंने कहा कि 'तुम्हारा इसमें कोई कसूर नहीं है। संसार में कोई चीज़ ऐसा नहीं है जो नश्वर न हो। सब चीज़ें जाती हैं, आखिर मेरी इस वाणी को भी जाना ही था। मैं बुड्ढा हो रहा हूँ, हो सकता है कि इस बुढ़ापे में ज़बान लड़खड़ाने लगे और इससे भगवती के स्वरूप का जो विचार प्रकट होता है, वह न हो पाये। उसमें मुझे ज़्यादा दुःख होता। संसार के सारे नश्वर पदार्थों में यह भी नश्वर ही है। भगवती ने दी थी, उसने ले ली, इसमें दुःखी होने की कोई वजह नहीं है। उस परब्रह्ममहिषी का संकल्प सर्वत्र पूर्ण होता रहता है।' टीपू

ने कहा कि 'आप मुझ से कुछ स्वीकार कर लो।' सुबैया हँस पड़े, कहा–'माँ ने मुझे क्या नहीं दिया जो मैं तुझ से माँगूँ।'

यह है उस मनुष्य की अवस्था जिसके अंतःकरण में बिम्ब की प्रतिभा पूर्ण रूप से आती है और प्रेम स्फुट हो जाता है। संसार के यावत् पदार्थ उसे शून्यवत् लगते हैं। जब तक नाद की उपासना में नहीं गये तब तक कुछ नहीं हासिल होगा। यही है बिन्दु से नाद की उपासना में जाना। खाली मंत्र आदि जप लिया तो नाद-उपासना हो गई, ऐसा नहीं।

ॐ

प्रवचन-१०

सूत संहिता के आधार पर आभ्यंतर पूजा का विवेचन कर रहे हैं। आभ्यंतर पूजा के दो भेद—साधार और निराधार हैं। साधार पूजा के पुनः दो भेद—रूपात्मक और शब्दात्मक (बिन्दुरूप और नादरूप)। बिन्दुरूप उपासना के द्वारा नादरूप उपासना की प्राप्ति संभव है। रूप से शब्द में जाया जाता है। लोक में भी ऐसा होता है। पहले किसी चीज़ को देखते हैं और देखने पर उसके नाम की जिज्ञासा होती है कि इसका नाम क्या है। किसी व्यक्ति अथवा किसी पदार्थ को देखो, देखने के साथ ही नाम की जिज्ञासा होती है। इसी प्रकार किसी को देखो तो उसके साथ बोलने की इच्छा हो जाती है। यहाँ भी पहले रूप का ज्ञान और तब शब्द की प्रवृत्ति है। चाहे किसी पदार्थ के नाम की जिज्ञासा हो अथवा किसी के साथ बातचीत की इच्छा हो, दोनों ही हालतों में रूप के बाद नाम है। इसी प्रकार उपासना के अन्दर साधार उपासना में बिन्दु उपासना के बाद ही नाद की प्राप्ति होती है।

कल जो ध्यान मंत्र बता रहे थे, उसके अन्दर भी रूप का वर्णन करने के बाद नाद स्वरूप बताया। उसमें नाद बताते हुए कहा—'वीणा-वेणु-मृदंग-वाद्यरसिकां' अर्थात् वीणा, वेणु और मृदंग इन बाजों को बजाने में कुशल अथवा सुनने की रसिक। संगीतज्ञ का मतलब होता है जो संगीत को सुनने में माहिर या कुशल हो अथवा संगीत को सुनाने में कुशल हो। प्रकृत *संगीत*

का स्वरूप समझना ज़रूरी है। इन वाद्यों का सामान्य स्वरूप तो प्रसिद्ध ही है। लेकिन याज्ञवल्क्य-शिक्षा में बताया है कि वस्तुतः हमारी जो रीढ़ की हड्डी है यही वास्तविक वीणा है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यह बताया है। इसीलिये रीढ़ की हड्डी के अन्दर जब मनुष्य ध्यान आदि साधन करता है, तब भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियों का नाद होता है। उसमें दशविध नाद निकलते हैं। उसमें वीणा, वेणु और मृदंग के-से शब्द आते हैं। विचार की दृष्टि से, दशविध नादों में इन तीन को इकट्ठा चुनने का कारण है।

वीणा तंत्री नाद है अर्थात् इसके अन्दर ध्वनि तार से निकलती है। तार के अनेक बाजे होते हैं जैसे तानपूरा, वायलिन इत्यादि। यहाँ सभी तंत्रियों को लेने के लिये वीणा को कह दिया। वेणु का नाद फूँक से है। ये भी अनेक प्रकार के होते हैं जैसे शहनाई इत्यादि जिनकी श्वास से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ होती हैं। इन्हें सुषिर वाद्य कहते हैं जिन सबके संग्रह के लिये वेणु कहा। मृदंग की हाथ से होने वाली ध्वनि है। ऐसे वाद्यों के भी अनेक प्रकार हैं, तबला, घड़ा, ढोलक आदि सारे हाथ से बजने वाले हैं। ये तीन प्रकार के ही सारे संगीत के साज़ होते हैं। कहीं इन्हें तंत्रीनाद, ध्मातनाद और हस्तनाद भी कहते हैं। इसलिये इनमें से किन्हीं तीन को चुन लो तो जितनी तरह के वाद्य हैं उन सबका संग्रह हो जाता है।

किसी विशिष्ट दृष्टि से ही इन तीन का चयन किया। जब सर्वप्रथम मनुष्य आध्यात्मिक साधना को करता है तब रीढ़ की हड्डी में ही सबसे पहले स्पंदन होता है। कुण्डलिनी के जागरण के साथ सबसे पहले रीढ़ की हड्डी में स्पंदन होता है। ऐसा लगता

है सबसे पहले मानो किसी ने हाथ रख दिया हो या साँप अथवा चींटी चढ़ गई हो। रीढ़ी की हड्डी के अन्दर ही यह सर्वप्रथम अनुभव है। इसीलिये वीणा को पहले रखा। फिर जब रीढ़ की हड्डी से वह स्पंदन चढ़ता है तब कण्ठ से लेकर भ्रू-मध्य के बीच प्रतीति होने लगती है। यह ध्मात स्थल है। पहले रीढ़ की हड्डी में स्पर्श और फिर गले से होकर भ्रूमध्य के बीच तरह-तरह के स्पर्श का भान होता है। यही ध्मात की साधना है। फूँक मारने की जगह यही है। फूँक भी ध्मातों के अन्दर दो तरह की होती है। एक, बाहर से हवा को अन्दर लेना और दूसरे मानो अन्दर की हवा को बाहर निकालना। एक में स्वयं क्रिया है, दूसरे में बाहर से क्रिया है। वेणु स्थल में एक ही क्रिया है, वादक खुद ही क्रियाशील है। लेकिन जब कण्ठ से भ्रूमध्य में पहुँचे तब उभयविध क्रिया है। कोई बाजा ऐसा होता है जिसमें वायु अन्दर खिंच कर बाहर निकलती है जैसे मशक का बाजा जो मुसलमान लोग बहुत प्रयोग करते हैं। उसमें हवा भरी होती है, फिर उसमें आवाज़ अन्दर की तरफ आती है। वेणु के बाद सारा शरीर ही मानो चमड़े की एक मृदंग बन जाता है। पहले केवल वीणा रूप कुण्डलिनी स्थल में, फिर कण्ठ से लेकर भ्रूमध्य स्थल में और अंत में मानो सारा शरीर ही मृदंग बन जाता है, अर्थात् सारे शरीर के अन्दर स्पंदन होने लगता है। इन स्पंदनों की बातों को पढ़कर आज-कल लोगों ने इसे बाह्य पदार्थ समझ रखा है। ऐसे लोग कहते हैं कि कुण्डलिनी जागृत हो गई, शक्तिपात हो गया और घूमते हैं, चिल्लाते हैं क्योंकि किताब में बाँच रखा है कि स्पंदन होता है ! विचारशील को हँसी आती है, क्योंकि वह जानता है कि स्पंदन

शरीर का थोड़े ही है, वह तो अन्दर होता है। यह दूसरी बात है कि अन्दर की गति का कुछ प्रभाव बाहर शरीर पर पड़े लेकिन वस्तुतः गति या स्पंदन अन्दर ही होना है। जैसे हिन्दी में कहते हैं कि 'उसको गुस्सा आया तो हाथ फड़क गये', इसका मतलब यह नहीं कि हाथ हिलने लगा हो। ऐसे ही यहाँ भी समझना कि सारा शरीर ही मृदंग की तरह बन जाता है। जब नाद का अनुभव होता है तब यह सारी प्रतीति होती है। इसीलिये नाद के अन्दर जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं वैसे-वैसे भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। जितना शब्दात्मक प्रपंच है, सारा इन ध्वनियों से ही बना हुआ है।

ऋग्वेद में बताया है कि किस प्रकार से भगवती इन सारे रूपों में बनती चली जाती है।

'गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्।'

वहाँ मंत्र बताता है कि उस भगवती काली ने संसार—नाम, रूप, कर्मात्मक जगत्, जिसका बीज सलिल है, उसे बनाया। जीवों के कर्म के अनुसार ही इस प्रकार सृष्टि की रचना की। सृष्टि प्रक्रिया में नाद पहले और बिन्दु बाद में है। साधक के लिये बिन्दु पहले और नाद बाद में है। नीचे से ऊपर जायेंगे तो सबसे ऊपर वाला हिस्सा बाद में आयेगा। ऊपर से नीचे जायेंगे तो सबसे नीचे वाला हिस्सा सबसे बाद में आयेगा। सृष्टि और विलय का क्रम विपरीत रहेगा। साधना के अन्दर यह हमेशा याद रखना चाहिये। सृष्टि-प्रक्रिया और लय-प्रक्रिया दोनों में फर्क है। जब सृष्टि-प्रक्रिया होती

है, उस समय तुम जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाओगे, वैसे-वैसे संसार के बंधन अधिकाधिक मज़बूत होते जायेंगे। अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया में जितने आगे जाओगे उतने अधिक संसार में फँसते जाओगे। लय प्रक्रिया के अन्दर इससे ठीक उल्टा होगा अर्थात् संसार-बंधन ढीला होता चला जायेगा।

सबसे पहले नाद एक पद वाला है। एक पद वाला नाद सब जानते हैं—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' ओंकार यह एक पद है। इन नादों का प्रतिपाद्य तत्त्व एक ही है, यह याद रखना। पहले एक पैर से चले। अब उसके ही दो पद (दो रूप) हो गये 'सोऽहं'। ओंकार में एक पद था, 'सोऽहं' में दो पद हो गये। एक के ही दो हुए। जो ओंकार का प्रतिपाद्य, वही 'सोऽहं' का प्रतिपाद्य है, लेकिन भेद कुछ अधिक प्रतीत होता है। 'सोऽहं' कहने से पहले एक पद था। यह सृष्टि-प्रक्रिया है। जब वह एकपद आगे चला तो दो की प्रतीति होने लग गई। 'सोऽहं' में अभी दो अलग-अलग हुए नहीं हैं। 'सा चतुष्पदी'—अब चार पैर हो गये 'तत्त्वमसि।' एक पदी 'ओंकार' के अन्दर केवल प्रपंचोपशांत रूप अद्वय ब्रह्म का ही बोध था। 'सोऽहं' में शिव और जीव दोनों का बोध है। 'सः' से ईश्वर का और 'अहं' से जीव का बोध है। चतुष्पाद में चार का बोध है—तत् का वाच्यार्थ, तत् का लक्ष्यार्थ और त्वं का वाच्यार्थ, त्वं का लक्ष्यार्थ। वेदांत की भाषा में जीव और जीव-साक्षी तथा ईश्वर और कूटस्थ। कूटस्थ और साक्षी की एकता, यह पारिभाषिक भाषा हुई।

मोटी भाषा में समझ लो। जब कहते हैं—'हे जीव, तू ईश्वर है' तो प्रश्न होता है कि 'मैं ईश्वर कैसे ?' हम बिल्कुल अलग-अलग

लगते हैं। वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् और मैं अल्पज्ञ-अल्पशक्तिमान्, दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? यदि दो चीज़ें अलग हों और उनको एक करके बताया जाय और कहने वाला आदमी विश्वासी हो तो श्रोता सोचेगा कि दोनों की एकता कैसे हुई ? मान लो डाक्टर ने कहा कि 'आप दोनों समय रोज़ दाल खाया करो।' तुमने शाम को देखा कि दाल नहीं बनी। घर वाली से कहा 'दाल नहीं बनाई?' वह कहती है, 'पापड़ का साग बना दिया है।' डाक्टर ने दोनों समय दाल खाने को कहा था। एक ही बात है, पापड़ भी दाल ही है। सोचो कि ये तो टुकड़े नजर आ रहे हैं जबकि दाल घुली होती है तो विचार करके पता लगेगा कि पापड़ दाल से ही बनता है। इसलिये जो उसका उपादान कारण है, उसकी एकता है, केवल रूप में भेद है।

इसी प्रकार अतिधन्य वेद कहता है—'हे जीव! तू उसी ईश्वर को ढूँढता फिर रहा है, चारों तरफ उस ईश्वर को ढूँढने के लिये टक्करें मार रहा है। बद्री, केदार में पहुँचता है, कभी वैकुण्ठ में पहुँचता है कि कहीं वह ईश्वर मिलेगा। चारों तरफ भटकता है। लेकिन वह ईश्वर तो तू है।' अब विचार करेगा कि अपौरुषेय वेदवाणी ग़लत बात तो कहेगी नहीं। जब इस प्रकार विचार करेगा तब पता लगेगा कि 'मेरे जीवभाव में भी चेतन तो है और ईश्वर भी चेतन है। इसलिये चेतन की दृष्टि से हम दोनों एक हैं। वैसे तो मैं और वह सब चीज़ों में अलग प्रतीत होते हैं, लेकिन एक ऐसा स्थल है जहाँ मैं और वह दोनों सर्वथा एक हैं। वह चेतन स्थल है।' जीव के चेतन को साक्षी और ईश्वर के चेतन को कूटस्थ कहते हैं। साक्षी और कूटस्थ दोनों एक हैं। बाकी हम अल्पज्ञ,

अल्पशक्तिमान् और वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है। लेकिन चैतन्य के स्तर पर हममें और उसमें कोई भेद नहीं है। भेद नहीं, इतना ही नहीं, चूँकि चेतन एक है, इसलिये उस स्थल में हमारे बिना वह ईश्वर भी चेतन-रहित है, उस स्थल में हमारे बिना वह भी कुछ नहीं है और चूँकि ईश्वर और जीव का चेतन एक है, इसलिये उस स्थल में हम भी उसके बिना कुछ नहीं हैं। चेतनांश में एकता है।

यहाँ हम लोगों का विशिष्टाद्वैत से भेद हो गया। विशिष्टाद्वैती कहता है कि जीव तो ईश्वर से अलग नहीं है, लेकिन ईश्वर जीव से अलग है। वह शरीर-शरीरिभाव मानता है। कहता है कि 'जीव छोटे-छोटे टुकड़े हैं, ईश्वर उन सब टुकड़ों का मिलाने वाला है, सबका मिला हुआ रूप है।' वेदांत यह नहीं मानता है। यदि जीव को टुकड़े और ईश्वर को मिला हुआ मानेगे तो ईश्वर मरने लग जायेगा ! जो चीज़ टुकड़ों से मिलकर बनती है, वह खत्म हो जाती है। महिम्न-स्रोत में भी कहा कि अवयव वाला होकर नित्य नहीं रहेगा। चेतन-स्थल में ईश्वर हमारे बिना और हम उसके बिना कुछ नहीं हैं। इसलिये वहाँ जाकर दोनों एक ही हैं। हमारे बिना वह भी पोल ही है। यदि वह हमसे भिन्न है तो उसकी सिद्धि कौन करेगा ?

इसलिये भक्तप्रवर उदयनाचार्य भगवान् से कहते हैं कि 'मेरे बिना तेरी सत्ता नहीं रहेगी।' वे जगन्नाथ पुरी में दर्शन करने गये तो कुछ देर हो गई थी। पण्डों को तो जानते ही हो ! जैसे ही वे अन्दर जाने लगे, तब पण्डों ने कहा—'चलो-चलो, कैसे अन्दर आ रहे हो?' उन्होंने कहा—'भगवान् का दर्शन कर लूँ, भगवान्

का मन्दिर है।' पण्डों ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा कि यदि कोई लक्ष्मी वाला है तो नारायण के पास जाये। शंकर का मन्दिर होता तो और मामला था। उन्होंने देखा कि यह तो पण्डित है, और चद्दर ओढ़े है। इसलिये उनसे कहा 'इस समय दर्शन नहीं हो सकते, चले जाओ।' उन्होंने कहा—'बड़ी दूर से चलकर आया हूँ, बड़ी इच्छा है कि भगवान् की झलक थोड़ी देख लूँ।' लेकिन वहाँ तो विष्णु भगवान् का दरबार था, शिव-मन्दिर तो था नहीं। पण्डों ने ज़बरदस्ती दरवाज़ा बन्द कर दिया। कहा—'नहीं आने देंगे, यह कोई समय नहीं है।' वे क्या करते, पण्डों ने ना कर दी सो कर ही दी। लेकिन वे भी तगड़े भक्त थे, ऐसे मानने वाले नहीं थे। उन्होंने कहा—'ये पण्डे-पुजारी नहीं मानते तो सीधे मालिक से बात करेंगे।' जीव का मन-बुद्धि पण्डे-पुजारी ही हैं। यदि मन-बुद्धि नहीं मानते तो किसी तरह आत्मा के पास पहुँच जाओ, काम हो जायेगा। मन, बुद्धि तो ना करते रहेंगे। उदयन उनका नाम है, आचार्य तो पद है। उत् मायने जाग्रत् या उठा हुआ और अयन रास्ता; जो रास्ते में उठ चुका है, वह उदयन हुआ, जिसने विचार प्रारंभ कर दिया है। अब वह रुकने वाला नहीं है। चाहे मन-बुद्धि उसे कितना ही ना करें, लेकिन वह अन्दर से कुछ न कुछ प्रवृत्ति करेगा। सीधे आत्मा से ही कहेगा। इसी प्रकार उदयनाचार्य जी ने भी बड़ी ज़बरदस्त बात कही जिसे सुनकर दूसरे लोग कहेंगे कि वे भक्त ही नहीं थे। कहा—

'ऐश्वर्यमदमत्तोसि माम् अवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।'

अरे ! यहाँ आकर बड़े मद से मस्त हो गये हो। बड़े पण्डे-पुजारी

इकट्ठे कर रखे हैं। बड़ा अधिकार जता रहे हो कि 'अन्दर नहीं आने दूँगा।' मानता हूँ कि तुम्हारे पास बहुत ऐश्वर्य है, ताकत भी बहुत है, इसकी अवहेलना नहीं करता, लेकिन इतना भी क्या! कुछ तो ख्याल करना चाहिये। मेरी अवज्ञा करके वहाँ बैठे हो। मेरा अपमान हो रहा है। मुझ से तेरा वियोग सहन नहीं हो रहा है। सोचते होगे कि 'यह क्या करेगा', लेकिन तुम्हारा खण्डन करने वाले जब आते हैं तब तुम्हें शून्य सिद्ध करते हैं। उस पोल में यदि कोई तुम्हारी सत्ता सिद्ध करने वाला है तो वह मैं हूँ, नहीं तो शून्य ही रह जाओगे। मेरे से ही तुम्हारी स्थिति है। उदयन होगा, तब तुम्हें सिद्ध करेगा।'

उदयनाचार्य बड़े भारी नैयायिक थे। 'बौद्ध' बुद्धि को मानने वाले को कहा जाता है। यहाँ साधक कहता है कि 'तुम बड़े भारी ईश्वर हो, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हो, लेकिन यह नहीं समझना कि हमारे बिना तुम्हारी चल जायेगी। यदि मेरे चेतनांश को छोड़कर तेरी सिद्धि कोई वैष्णव आदि करना चाहेगा तो होगी नहीं। ईश्वर के विषय में तो बुद्धि की ही वृत्ति बनेगी, अंतःकरण की वृत्ति ही बनेगी और उस अंतःकरण की वृत्ति का प्रकाशक मैं ही हूँ। कितनी भी अंतःकरण से विषयाकार वृत्ति बन गई, यदि मैं प्रतिफलित नहीं होऊँगा तो शून्य हो जायेगा। जब तक मैं वज्रवत् खड़ा हूँ, तब तक तुम शून्य नहीं हो। जब यह अखण्ड चेतन वज्र की तरह खड़ा है, तब सारा जगत् चेतनमय है और आनंदमय है, नहीं तो सारा शून्य, जड है। उसे सिद्ध कौन करेगा ?

जो साधक होता है वह इस दृष्टि से चतुष्पाद को समझता है। सर्वप्रथम एक नाद 'ओंकार' है जो प्रपंचोपशम है। फिर द्विपादी

जीव-ईश्वर का प्रतिपादन और फिर चतुष्पाद 'तत्त्वमसि' जीव, साक्षी, ईश्वर, कूटस्थ। साक्षी और कूटस्थ की एकता है। इसलिये साक्षी कूटस्थ के बिना जीव भी कुछ नहीं और साक्षी कूटस्थ के बिना ईश्वर भी कुछ नहीं है।

अष्टपदी—अब आठ पैर आये। नाद अब आगे बढ़ा। जितनी वर्णमाला है, उसका बीज ये आठ हैं। स्वर, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, अन्तस्थ (य, र, ल, व) और ऊष्म (श, ष, स)। इन आठ के अन्दर सारी वर्णमाला आ गई। इनमें 'ह' इस वर्ण को छोड़ रखा है! क्यों छोड़ रखा है ? 'ह' बड़ा विचित्र वर्ण है। अनुस्वार और विसर्ग दोनों विचित्र हैं। यह अष्टपदी हो गई—अ, क, च, ट, त, प, य और श। इनमें से प्रत्येक वर्ण जीव की एक पुरी को बताते हुए पुर्यष्टक के विस्तार को बता देता है। इधर जीव के पुर्यष्टक और उधर

'त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः।

त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।'

शिव की भी आठ मूर्तियाँ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और यजमान। ये आठ ही उपाधियाँ शिव की अष्टमूर्तियाँ हैं। चतुष्पदी में केवल जीव और ईश्वर थे, अब अष्टपदी हो गई, उसका और ज़्यादा विस्तार हो गया। प्रत्येक अक्षर के अन्दर अब उसी को देखना है। जो नादात्मक सृष्टि है, वही बिन्दु बिम्बात्मक होती चली जाती है। इधर 'तत्त्वमसि' आया तो उधर जीव, ईश्वर, साक्षी और कूटस्थ आ गये। उधर बिन्दुरूप सृष्टि तो इधर अष्ट वर्ण (पुर्यष्टक और शिव की अष्ट मूर्तियाँ),

हर स्थल पर जीव-ईश्वर का भेद रहेगा।

अनुस्वार और विसर्ग को क्यों छोड़ दिया यह बता देते हैं। इनको कभी देखो : अनुस्वार लगाकर उसके सामने काँच रख दो तो विसर्ग बन जायेंगे। एक बिन्दु अब दो हैं तो मिलकर विसर्ग बन गये। वे दो होते नहीं हैं, प्रतीत होते हैं। अनुस्वार शुद्ध बिन्दु को बताता है और विसर्ग प्रतिबिम्बित बिन्दु, उपाधि वाले बिन्दु को बताता है। इसीलिये अनुस्वार और विसर्ग सारी सृष्टि का बीज है। आदि से लेकर अंत तक एक बिन्दु है और केवल उपाधि के कारण वह विसर्ग प्रतीत होता चला जाता है। इसलिये उसे अष्ट वर्गों में, अष्टपदी में गृहीत नहीं किया। क्योंकि वह तो सबका आधार हो गया इसलिये उसे अलग नहीं कर सकते।

आगे नवपदी, नौ पादों वाली हो गई। नादात्मक सृष्टि के अन्दर हमेशा नवीनता आती है। कोई भी दो आवाज़ें एक जैसी नहीं होतीं अलग-अलग ढंग की होती हैं। इसीलिये कोई भी दो पदार्थ बिन्दुरूप भी एक जैसे नहीं होते। नाद में जो नवरूप है उसको बताते हुए नवपदी कहा है। ये हमारे शरीर के विभिन्न चक्रों में विभिन्न रूप से प्रकट होते हैं। इनमें सुषुम्ना में प्रकट होने वाले सात चक्र हैं। सुषुम्ना की जागृति से पहले इडा और पिंग़ला। इतने स्थल मिलाकर नव हो जाते हैं। साधारण मनुष्य इडा, पिंगला में चलता है। योगी सुषुम्ना के सात चक्रों में चलते हैं। कुल नौ हो गये। है वही वर्ग, लेकिन इडा में प्राकट्य और ढंग से तथा पिंगला में और ढंग से होता है। सुषुम्ना चक्र में शुद्ध रूप रहता है। इसीलिये शास्त्र में बताया कि सारे वर्ण एक जैसे नहीं होते—

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना-
बद्धस्तस्माद् भवति पवनः प्रेरितो वर्णसञ्ज्ञः।'

योगी लोग जब कोई भी ध्वनि निकालते हैं तो मूलाधार से (जहाँ रीढ़ की हड्डी समाप्त होती है) निकालते हैं। साधारण आदमी इस ध्वनि को नहीं समझता, उसको प्रतीति ही नहीं होती। उसके बाद वह योगी हृदय में आता है। साधारण व्यक्ति हृदय की ध्वनि को भी नहीं पकड़ पाता। फिर जब वह मुँह (वक्त्र) में आ जाता है, तभी साधारण आदमी पकड़ पाता है। मूलाधार में जब रहता है तब उसी को परा वाणी कहते हैं। हृदय में जब आई तो बुद्धि के साथ मिली। कोई भी शब्द प्रकट होगा तो पहले परा वाणी से पूछेगा, फिर बुद्धि से प्रकट होगा। लोग समझते हैं कि सोचने का काम बुद्धि करती है, लेकिन ऐसा नहीं है। परावाणी जब बुद्धि में आती है तब वैसे ही बुद्धि सोचती है। कई बार ऐसा होता है कि एक चीज़ का विचार करने बैठो तो बार-बार दूसरी चीज़ दिमाग में आती है। इसका कारण यह है कि मूलाधार पर नियंत्रण नहीं है। उस परा पर जब नियंत्रण नहीं होगा तब बुद्धि में उसका उदय ठीक नहीं होगा। इसलिये उसके मूल बीज को, जो मूलाधार में है, यदि तुमने ठीक तरह से स्पंदित किया तो वहाँ से जो परा वाणी उठेगी वह हृदय में आकर ठीक ही टक्कर मारेगी। यदि इसे नियंत्रण नहीं कर पाये तो बुद्धि-स्थल पर नियंत्रण करना फालतू है। हृदय का नियंत्रण बाद में, पहले नहीं। पहले तो

मूलाधार का नियंत्रण होगा। तब फिर हृदय के ऊपर आकर बुद्धि का नियंत्रण है। उसका नाम मध्यमा वाणी है। 'वक्त्रे वैखरी' मुँह में आई तो वैखरी वाणी बनी। अब रव करने की इच्छा हुई। हम लोग वैखरी वाणी में आकर नियंत्रण करना चाहते हैं। लेकिन वह नियंत्रण कहाँ से होगा, जब बुद्धि में ही नियंत्रण नहीं है। बुद्धि पर नियंत्रण के बिना वैखरी वाणी में नियंत्रण करने से कुछ नहीं होगा। जाना मूलाधार में पड़ेगा। जब देखो कि मुँह में शब्द की गड़बड़ी हो रही है, जैसा चाहते हो वैसा नहीं बोल पा रहे हो, तब मूल का स्पर्श करने चले जाओ अर्थात् मूलाधार का नियंत्रण कर लो। इस प्रकार भिन्न-भिन्न बंधनों से जाते हुए पवन 'वर्ण' बनता है। साधना में ठीक इसका उल्टा क्रम होगा।

एक कथा आती है। सरयू नदी के किनारे अयोध्या में पुष्पमित्र नाम का राजा हुआ है। पुष्यमित्र नहीं समझना क्योंकि वह तो अफगानिस्तान का राजा था! पाकिस्तान की तरह अफगानिस्तान भी कोई दूसरा देश नहीं है। दोनों पहले भारत में ही थे। यह पुष्पमित्र था। उसकी दो पत्नियाँ थीं, एक कालिंद राजपुत्री मनोरमा और दूसरी अवन्ती (उज्जैन) की राजकुमारी लीलावती। मनोरमा बड़ी थी और लीलावती छोटी रानी थी। लीलावती के पुत्र का नाम सुदर्शन था। राजा पुष्पमित्र को आखेट का बड़ा शौक था। एक दिन वह शिकार खेलने गया और वहाँ शेर के शिकार में मारा गया। बड़ी रानी का कोई लड़का नहीं था। इसलिये यह विचार हुआ कि छोटी रानी के लड़के को ही गद्दी दे दी जाये। लेकिन बड़ी रानी को यह पसन्द नहीं आया। पसन्द न आने के कारण उसने पिता को चिट्ठी लिखी 'राजा मर गये हैं और बड़ी रानी होने

के कारण मैं ही गद्दी पर बैठूँ।' उसकी मदद करने कालिंदराज आ गये। उसने आकर सुदर्शन को हरा दिया। अब लड़की को तो क्या बैठाना था, खुद ही राजगद्दी पर बैठ गया ।

सुदर्शन अपने एक मंत्री विदल को साथ लेकर वहाँ से भाग गया और महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचा। पहले से ही अयोध्या और वशिष्ठ इन दोनों का सम्बन्ध है। सीता भी वहीं गई थी। जैसे ही सीता वन में जाने के लिये निकलीं तब पहले वशिष्ठ के आश्रम में जाकर फिर वाल्मीकि आश्रम में पहुँचीं। यद्यपि कालिंदराज ने बड़ा प्रयत्न किया कि आश्रम में जाकर उसे निकाल लायें, लेकिन वशिष्ठ के सामने किसी की जाने की हिम्मत नहीं हुई। वहाँ वशिष्ठ जी ने सुदर्शन को भगवती के मंत्र का उपदेश दे दिया और कहा कि 'राज्य आदि कुछ नहीं है, अब यही तेरा सहारा है।' वह भी एकाग्र वृत्ति करके भगवती की उपासना करने लगा। जो भगवती की उपासना करता है उसकी सारी कठिनाइयाँ समाप्त होती चली जाती हैं। बताया है

'ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः।
धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना।'

संसार में किस व्यक्ति को सब लोग सम्मान देंगे ? हे भगवती! जिसके ऊपर तुम प्रसन्न होती हो, उसी को सब लोग सम्मान देते हैं। धन भी उसके पास रहेगा जिनके ऊपर भगवती की प्रसन्नता होगी। उन्हीं को यश की प्राप्ति होगी। धर्म, अर्थ, काम,

मोक्ष चारों में से कोई भी उनके हाथ से निकलने वाला नहीं है। धीरे-धीरे सुदर्शन ने भगवती की कृपा से शस्त्रास्त्र का भी अभ्यास कर लिया।

एक बार भ्रमण करते हुए वहाँ काशिराज आ गये। उन्होंने देखा कि लड़का (सुदर्शन) बड़ा सुन्दर है। उसे देखकर पूछा 'यह कौन है ?' वशिष्ठ जी ने कहा 'है तो अयोध्याराज लेकिन इस समय ऐसी स्थिति हो गई है।' काशिराज ने अपनी लड़की चन्द्रमुखी का ब्याह उसके साथ कर दिया और फौज लेकर अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। कालिंदराज हार गया। सुदर्शन वहाँ का राजा हो गया। सुदर्शन के ससुर काशिराज ने कहा 'अब तुम राज्य करो।' उसने कहा 'मेरे अन्दर तो राज्य करने की शक्ति नहीं है। राज्य तो भगवती ही कर सकती है।' वह अपने साथ अपनी भगवती की मूर्ति लेकर आया था। भगवती से उसने पूछा 'मैं तुम्हारी आज्ञा को मानने के सिवाय और कुछ नहीं करने वाला हूँ। यद्यपि सारी जनता मुझे सम्मान देती है लेकिन मैं जानता हूँ कि वह सम्मान मेरा नहीं है, तेरा ही है, क्योंकि तू न होती तो सम्मान कहाँ से आता ! यद्यपि लोग देखते हैं कि मेरे पास धन है, लेकिन वह धन मेरा नहीं, तेरा है, नहीं तो मैं जंगल में पड़ा था। तू है तो सब है। लोग समझते हैं कि मेरा यश है, लेकिन यह मेरा यश नहीं, बल्कि अन्दर की संवित् शक्ति का ही यश है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों तुझ से हैं, मेरी कुछ शक्ति नहीं है।' भगवती से उसने पूछा 'आप आज्ञा करो कि मैं क्या करूँ।'

'करोमि किं ते वद देवि कार्यं
क्व वा व्रजामीत्यनुमोदयाशु।

कार्ये विमूढोस्मि तवाज्ञयाहं

गच्छामि तिष्ठे विहरामि मातः।'

हे माता ! मैं क्या करूँ, यह भी आप ही बताओ। आप बताओ कि मैं किस तरह से यह काम करूँ, मुझे कुछ करना नहीं आता। क्या करूँ और कैसे करूँ यह आप ही बताओ। किधर की तरफ जाऊँ, यह भी तुम ही बताओ, मुझे कुछ पता नहीं है। आप शीघ्र ही अनुमोदित होकर बताओ कि मैं किस तरफ जाऊँ। कार्य करने में मैं सर्वथा मूढ हूँ। मुझे होश ही नहीं रहता कि कौन-सा कार्य करूँ और कौन-सा न करूँ। तुम्हारी आज्ञा से ही मैं चलूँगा और तुम जब कहोगी तो खड़ा रह जाऊँगा। यदि मैं आंनद लूँगा तो तुम्हारी आज्ञा से ही। —इस प्रकार कहकर उन्होंने भगवती का ही वहाँ स्थापन कराया और अपने को केवल उनका अनुगामी समझकर वहाँ का राज्य किया।

इस कथा के द्वारा क्या बताया ? अयोध्या नगरी का वर्णन अथर्ववेद में आता है—'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।' इस शरीर को अयोध्या कहा है। यही देवताओं की पुरी है। भगवान् भाष्यकार भी कहते हैं—यह शरीर ही देवालय है। अन्य बौद्ध जैन आदि शरीर को घृणित मानते हैं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'देहो देवालयः प्रोक्तः' यह देवताओं की पुरी है। इस मानव देह को कोई नहीं जीत सकता। अन्यत्र भी कहा है 'नातः परं' मानव देह से परे कुछ है ही नहीं। बाकी जितने शरीर हैं, उनमें कोई ऐसा नहीं है जिसमें पूर्णता हो। इसमें परब्रह्म का ऐसा साक्षात्कार होता है कि पूर्णता आ जाती है इसलिये इसे पूर्ण कहा। इसीलिये *अयोध्या* कहा। इससे श्रेष्ठ और कोई जीतने का

साधन नहीं है।

लेकिन इस अयोध्या का राजा पुष्पमित्र बन बैठा है। पुष्पमित्र कामदेव को कहते हैं, पुष्प ही मित्र हैं जिनके। कामदेव के पाँचों बाण पुष्प ही माने गये हैं। इसीलिये उसका दूसरा नाम पुष्पधन्वा भी है। हमने अपने देह राज्य का राजा काम को मान रखा है। उस काम ने दो के साथ ब्याह कर रखा है। कालिंदी—काल नाम यमराज का है, उसकी बहन यमुना को कालिंदी कहते हैं। यम की बहन यमी हुई जो हमेशा यम-सम्बन्धी है। मनोरमा—मन को जो प्रिय लगे जिसे कठोपनिषद् में 'प्रेयः' कहा है। मनोरमा से भी उसने ब्याह कर रखा है। अवन्तिका—जो रक्षा करने वाली हो। अव मायने रक्षा करना। रक्षा करने वाले भगवान् शंकर हैं। अवन्तिका की राजकुमारी लीलावती है। संसार को क्रीडा-स्थली माना गया है। मन इस प्रिय को मनोरमा मानता है। बुद्धि इसे खेल मानती है इसलिये बुद्धि नहीं फँसती, मन फँसता है। काम निरंतर शिकार खेलने जाता है। काम करता ही यह रहा कि इधर-उधर शिकार खेलता रहता है। अंत में किसी-न-किसी विषय के द्वारा वह मारा जाता है।

अब राज्य पर मन पहले अधिकार कर लेता है। बुद्धि की कृपा को कोई नहीं पूछता। यही हम लोगों की स्थिति है। सुदर्शन भाग कर वशिष्ठ आश्रम में पहुँचा। सुदर्शन—अच्छा दर्शन अर्थात् ज्ञान। वेदांत दर्शन ही सुदर्शन है जो बुद्धि से ही उत्पन्न होगा। ऐसा वेदांत दर्शन जब भली प्रकार से श्रेष्ठ गुरु से सम्बन्धित होकर ओंकार, सोहं आदि मंत्र का जाप करता है, अर्थ को समझता है तब वह तैयार हो जाता है। लेकिन उसे लेकर जाने में विदल मंत्री

ने भी सहायता की थी। विदल—दाल के दो टुकड़ों को विदल कहते हैं। संसार में सत्य-असत्य, नित्य-अनित्य को विवेक के द्वारा दो हिस्सों में करते हैं। जब विदल का सहारा लेकर जाओगे, तभी सुखी रहोगे, वेदांत दर्शन प्रौढ बनेगा। जिसमें विवेक नहीं, वह ऐसा नहीं कर सकेगा।

सुदर्शन ने अपना सम्बन्ध काशिराज की पुत्री से कर लिया। काश नाम ज्ञान का है। इसलिये उसकी पुत्री ब्रह्म-ज्ञान, ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा उसने राज्य अपने हाथ में कर लिया। अब इस शरीर (संसार) को वह कैसे चलायेगा ? उसकी इच्छा कुछ नहीं रही, उसने उसे सर्वथा संवित् के अधीन कर दिया। 'हे भगवती ! इस शरीर, मन आदि से तुम्हें जो काम लेना हो, लो।' ब्रह्मनिष्ठा के बाद उसका कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिये देवी को अपनी सृष्टि के लिये शरीर का प्रयोग करना हो तो करे, नहीं तो कोई बात नहीं, उसका प्रयोजन सिद्ध हो गया। अतः देवी से कहता है कि प्रसन्न होकर यह बताओ कि मैं कहाँ जाऊँ। मुझे पता नहीं लग रहा है कि कैसे करूँ, मुझे रास्ता नहीं मिल रहा है क्योंकि मेरी अब कोई इच्छा नहीं रही। ब्रह्मनिष्ठ की कोई इच्छा नहीं होती। अब तुम आज्ञा करती हो तो मैं खड़ा रहूँगा या विहार करूँगा। इस दृष्टि को जब प्राप्त कर लेता है तब वेदमंत्र कहता है कि यह अंतिम स्थिति है। अनंताक्ष बना हुआ जब इसमें स्थित हो गया तब नाद से अतीत चला गया।

ॐ

प्रवचन-११

सूत संहिता के आधार पर पूजा के स्वरूप का विचार कर रहे हैं। उसमें भी आभ्यंतर पूजा के साधार रूप का कुछ विस्तृत चिंतन प्रारंभ किया। साधार विचार निराधार की भूमिका होता है। जिस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया के अन्दर अधराधर भूमिका, वैसे ही साधना-प्रक्रिया के अन्दर उत्तरोत्तर प्रक्रिया होती है। सृष्टि प्रक्रिया में अधर-अधर अर्थात् नीचे-नीचे सीढ़ी उतरती है। साधना के अन्दर उत्तरोत्तर अर्थात् ऊपर-ऊपर सीढ़ी चढ़ती है। सीढ़ियाँ वही हैं, ऊपर और नीचे में सीढ़ियों का भेद नहीं है; भेद सीढ़ी के क्रम में है। किसी व्यक्ति को किसी एक सीढ़ी पर देखकर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वह ऊपर है या नीचे। यह भूल हम प्रायः करते हैं। ऊपर या नीचे का निर्णय 'कहाँ पर है' इससे नहीं, बल्कि 'कहाँ से कहाँ को है'—इससे है। यदि ऊपर से नीचे की ओर जा रहा है तो उस काल में उसी सीढ़ी पर रहते हुए भी नीचे है। सीढ़ी तो वही मिलेगी। यदि नीचे से ऊपर को जाते हुए वह बीच वाली सीढ़ी पर है तो उसकी गति उत्तर है। इसलिये अधराधर भूमिकायें और उत्तरोत्तर भूमिकायें एक ही होंगी। यदि निराधार से साधार में आये तो अधर भूमिका और साधार से निराधार में गये तो उत्तर भूमिका है। किस प्रकार साधार से निराधार में पहुँचा जाता है, इसका कुछ विचार करेंगे।

जिस ध्यान मंत्र का विचार कर रहे थे, उसमें अंतिम पंक्तियों

के द्वारा इसे बताया—'बिम्बोष्ठीं शिववामभागनिलयां ध्यायेज्जगन्मोहिनीम्।' 'वीणा-वेणु-मृदंग-वाद्यरसिकां' यहाँ तक साधक के हाथ की बात है। सुषुम्ना के अन्दर शनैःशनैः पहले वीणा, फिर वेणु और फिर मृदंग की तरह अपने सारे शरीर के अन्दर स्पंदन करने तक तो साधक के हाथ में है। उसके आगे यदि साधक समझता है कि मेरे हाथ में है तो वह ग़लती करता है क्योंकि उसके आगे साधक के हाथ की बात नहीं है। भ्रम अवश्य होता है कि यदि यहाँ तक हम अपने मन में पहुँच सके अथवा अपने पुरुषार्थ से पहुँच सके तो आगे भी अपने पुरुषार्थ से सम्भाल लेंगे। लेकिन यह भ्रम अहंकार का बीज होने से मनुष्य को अवश्य नीचे गिराता है। इसकी सावधानी बताने के लिये ध्यानमंत्र ने कहा—'कारुण्यवारां निधिं।' वह भगवती चूँकि करुणा का समुद्र है इसलिये साधार के आगे निराधार में जाने में उसकी ही कृपा कारण है, अपनी अहंकृति नहीं। जहाँ मनुष्य कर्म करता है, वहाँ तो उसकी यज्ञ संज्ञा अपने हाथ में है, लेकिन यह उससे अतीत है। इसलिये उपनिषद् ने सावधान किया—

'प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपाः
अष्टादशोक्तम् अवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः।'

यज्ञ रूपी नौका कमज़ोर है जिसमें ये अठारह ऋत्विक् हैं—पंच-कर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अविद्या। सारे शरीर के अंग ही तो कर्तृत्व-भोक्तृत्व लाने वाले हैं। इन से मिलकर जितने भी यज्ञ रूप कर्म करेंगे वे दृढ नहीं हैं। कर्म करते समय

यह प्रतीत होता है कि 'ये दृढ हैं, हमें ज़रूर पार ले जायेंगे' लेकिन वस्तुतः उनके अन्दर धीरे-धीरे कमज़ोरी के कारण अदृढता ही प्रकट होती रहती है। उसको दृढता देने वाली चीज़ ज्ञान है, वह न होने के कारण जितना भी कर्म से तुम उसको भरते हो, तुमको पता नहीं, लेकिन वह खाली ही होता जाता है। इसलिये उसमें अदृढता रहेगी, दृढता नहीं रहेगी। इसी को जो कल्याण समझकर बड़ा खुश होता है, उसको पता नहीं कि ये अदृढ हैं। उसे वह आनंद का साधन मान रहा है, लेकिन ठीक मौके पर धोखा दे देते हैं। जब धोखा खाया तब पता लगा कि 'हम तो महामूर्ख हैं। अब तक हम अपने को समझदार समझ रहे थे, लेकिन मूर्ख सिद्ध हुए।' वहाँ तक पहुँचने में सहायता करने वाले ये अठारह नहीं हैं, वरन् 'कारुण्यवारां निधिं' करुणा की समुद्र रूपी भगवती की जो कृपा है, वही सहारा देने में समर्थ है। इसलिये साधार से निराधार में जाने में अहंकार का त्याग है। कर्म और ज्ञान का यह मूलगत भेद याद रखना।

प्रश्न उठता है कि जैमिनि व्यास जी के शिष्य हैं, फिर उन्होंने वेदांत का विचार क्यों नहीं किया ? इसका जवाब है कि यदि इसका विचार करेंगे तो कर्म की सिद्धि नहीं होगी ! यदि यह जानना चाहोगे कि *सचमुच में* कर्त्ता कौन है ? तो जीव ही नहीं रहेगा, उड़ जायेगा, क्योंकि कर्त्ता तो केवल एक है और वह ईश्वर है 'स हि सर्वस्य कर्त्ता सर्वस्येशानः।' बृहदारण्यक उपनिषद् कहती है कि वही एकमात्र कर्त्ता है। लेकिन जो हो रहा है उसमें अहंकार-पूर्वक, अभिमान करके हम पुण्य-पाप प्राप्त करते हैं। पुण्य-पाप का और कोई कारण नहीं है। इसलिये कर्म मीमांसा

के आचार्य कहते हैं कि कर्त्ता का विचार मत करो कि कौन कर्त्ता है, केवल मानकर चलो। यदि तुम्हारे मन में जिज्ञासा हो गई हो तो वेदांत बाँच लो, फिर हमारे काम के तुम नहीं रहे। जब तक कर्म-शास्त्र है, तब तक कर्त्ता-भोक्ताभाव है, जब कर्त्ता-भोक्ता-भाव नहीं रहेगा, तब ज्ञान में प्रवेश है। आजकल एक 'नास्तिक मत' चला है जिसको हम ही नास्तिक नहीं कहते हैं, सर्वज्ञ भगवान् शंकर भगवत्पाद ने उपदेशसाहस्री में कह दिया—

'अंह ब्रह्मास्मि कर्त्ता च भोक्ता चास्मीति ये विदुः।
ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां नास्तिकाःस्युर्न संशयः।'

नास्तिक का लक्षण बताते हैं कि थोड़ी देर तक विचार करके किसी समय तो कहता है 'अहं ब्रह्मास्मि' 'हम ब्रह्म हैं।' फिर थोड़ी ही देर बाद कहता है, 'हम कर्त्ता-भोक्ता हैं ! हम दुकान खोलने वाले हैं, पैसा कमाने वाले हैं।' जिसे अंग्रेज़ी वाले 'पार्ट टाइम जाब' (part time job) कहते हैं, ऐसा उन्होंने परमार्थ सत्य को बना रखा है कि कुछ देर वह सत्य रह जाये, बाकी समय संसार है ही। कई लोग होते हैं जो एक जगह अफसर हैं, दूसरी जगह पैसा कमाने के लिये टाइपिस्ट बन जाते हैं। एक जगह मास्टर हैं, दूसरी जगह दो घण्टे हिसाब लिख लेते हैं। इसी प्रकार वे लोग भी घण्टा-दो घण्टा ब्रह्म बन जाते हैं और दस-बीस घण्टे के लिये कर्त्ता-भोक्ता बन जाते हैं। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा जो करते हैं 'ते नष्टा ज्ञानकर्मभ्यां' वे ज्ञान से भी नष्ट हो जाते हैं और कर्म से भी नष्ट हो जाते हैं। 'नास्तिकाःस्युर्न संशयः' बिना संशय के वे नास्तिक ही हैं।

आत्मा एक ही है, उसे चाहे ब्रह्म ही बना लो या कर्त्ता-भोक्ता ही बना लो। यह आधे-आधे का हिसाब चलने वाला नहीं है। लोक में भी कहते हैं कि दो नावों पर पैर रखने वाला ज़रूर डूबता है। नाव यदि कच्ची भी हो, कच्ची नाव में पानी भर रहा हो फिर भी आशा है कि कुछ प्रयत्न करके मनुष्य फायदा उठा लेगा। पक्की नाव हो तो बात ही क्या ! लेकिन बीच वाली नाव अर्थात् एक कच्ची और पक्की नाव पर पैर रखा तो निश्चय है कि बीच में ही गिरोगे। इसी प्रकार यहाँ भी या अपने हाथ के ज़ोर से काम करो या भगवती की कृपा के ज़ोर से ही काम करो; यदि बीच वाला काम किया तो गये। इसलिये उन्हें नास्तिक कहा।

जब मनुष्य ने सर्वथा निराधार में जाना है तब इस कर्त्तृत्व भाव को सर्वथा छोड़ देना है। 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ और न कर सकता हूँ', यह निश्चय बड़ा टेढ़ा मामला है। जितनी सरलता से मनुष्य कहता है कि 'मैं कर्त्ता नहीं', उतनी सरलता से अंतःकरण अनुभव करने को तैयार नहीं है। कर्त्तृत्व का अभिमान छूटना बड़ा कठिन है। विचार करके देखो तो कर्त्तृत्व बेवकूफी सिद्ध होता है। मेरे पैदा होने से पहले अनादि काल तक कुटुम्ब चलता ही रहा, बाप-दादा सब थे, मैं आया। मेरे मरने के बाद भी यह सारा कुटुम्ब चलता ही रहेगा। ऐसा नहीं कि मेरे मरने के साथ ही सारे मर जायेंगे अथवा कुटुम्ब रहेगा नहीं। अनादि काल से आज तक कुटुम्ब चलता रहा, और अनंत काल तक चलता ही रहेगा, फिर क्या पचीस साल में मेरे बिना खत्म हो जायेगा ? लेकिन कर्त्तृत्व भावना कहती है कि 'मैं नहीं करूँगा तो सब ख़त्म हो जायेंगे।' विचार करने से बेवकूफी सिद्ध होती है, लेकिन क्या अन्दर का

भाव निकल जाता है कि 'मेरे बिना सब चलेगा' ? वह भाव बना ही रहता है। यही तो कर्त्तृत्वभाव है। कर्त्तृत्वभाव को सर्वथा छोड़े, तब निराधार में जाये। मन में संदेह रहता है कि 'मैं नहीं चलाऊँगा, मैं कर्त्तृत्वभाव नहीं रखूँगा तो मेरे और मेरे सम्बन्धियों के ऊपर कोई बुरी तो नहीं बीत जायेगी ? कहीं मैंने सब सहारा छोड़ा और ईश्वर ने धोखा दे दिया तो ?' इसीलिये कह दिया कि भगवती करुणा का समुद्र है, वह धोखा नहीं देगी। यह पूर्ण विश्वास है।

'बिम्बोष्ठी' के द्वारा भगवती का स्वरूप बताया कि उसके ओष्ठ बिम्ब फल की तरह लाल हैं। होंठ क्या काम करते हैं ? खाने का काम बिना होंठों के हो जाता है लेकिन पीने का काम इनके बिना नहीं होता। होंठ बिना लगाये खाली दाँत के सहारे पीने की चेष्टा करोगे तो नहीं पिया जायेगा। इसलिये होंठ पीने के लिये हैं। लेकिन भगवती के होंठ क्या पीने के लिये हैं ? पीने का मतलब होता है, गिलास में रखी हुई चीज़ को मुँह में खींचना। इसी प्रकार हमारे मूलाधार के अन्दर पड़ी हुई शक्ति को ऊपर खींचना, यह भगवती की कृपा है। बताया है कि किस प्रकार यह क्रिया होती है

'कन्दनाभेरधोरन्ध्रे निधाय स्वफणां दृढाम्।
स्वमुखेन सदावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुनेः।'

मूलाधार के बीच में जो एक छोटी-सी गाँठ है, उसे कंद कहते हैं। वह चारों तरफ से आवेष्टित है। उस छोटे से कंद को अपने मुख से ही आवेष्टित किये हुए है अर्थात् वह ढका हुआ है। आवेष्टन लपेटने को कहते हैं। अपने मुख या होंठ से उस कंद

को ढक दिया। कंद और नाभि के अधर भाग में रंध्र (छेद) है, वहीं मूलाधार के अन्दर जायेंगे। वहाँ कुण्डलिनी शक्ति के फण को रखकर और ऊपर के कंद को मानो होठों से पकड़ (आवेष्टित) कर फिर ब्रह्मरंध्र में से कुण्डलिनी को खींचा जाता है। जब वह खींचते हैं तब कालचक्र का आरंभ होता है। यह थोड़ा रहस्य का विषय है; अब साधार से निराधार में जाना है। इसके लिये देश-काल कुछ और बन जाते हैं। जिसे हम लोग सामान्य रूप से रात-दिन कहते हैं वे अब रात दिन नहीं रहेंगे। 'इडायां चन्द्रमा नित्यं पिंगलायां तथा रविः;' अब रात-दिन इडा और पिंगला हो जायेंगे। इडा नाडी में ही चन्द्रमा रहता है। अपने बाईं तरफ वाला हिस्सा कंद और नाभि के अधोभाग में छिद्र है, उस बाईं नाडी में बाईं तरफ इडा है। वह दोनों तरफ जायेगी। उसका चक्र कभी बाईं तरफ तो कभी दाहिनी तरफ जायेगा। इडा के अन्दर चन्द्रमा है। इसलिये पवन की टक्कर जब इडा भाग में जायेगी तब वहाँ चन्द्रमा होने के कारण रात्रि होगी और जब दाहिनी तरफ टक्कर मारी जायेगी तब पिंगला में गति आयेगी, वह दिन होगा। यही वहाँ रात और दिन है क्योंकि यही सूर्य और चन्द्र का सम्बन्ध है। इसलिये जब पिंगला से इडा की तरफ जायेंगे तब बीच आयेगा और इडा से पिंगला की तरफ जायेंगे तब भी बीच आयेगा। पिंगला से इडा की तरफ (दायें से बायें) जाना है तो उत्तरायण और जब इसके विपरीत इडा से पिंगला की तरफ (बायें से दायें) जायेंगे तो दक्षिणायन होगा। यही रात और दिन तथा उत्तरायण और दक्षिणायन का क्रम है। जब इन दोनों की संधि होगी अर्थात् न बायें और न दायें, ठीक मध्य में जब पवन

का स्पर्श (टक्कर) होगा तब उसका नाम ही अमावास्या है क्योंकि सूर्य और चन्द्र दोनों वहाँ एक हो गये। श्रुति भी कहती है कि सूर्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा है। जिस समय ठीक मध्य के अन्दर पवन का स्पर्श होकर ऊपर-नीचे गति हो, अर्थात् कंदभाग, जहाँ आवेष्टन करके भगवती का अवस्थान है, वहाँ से लेकर रंध्र पर्यन्त मध्य भाग के अन्दर गति होवे, वही आद्य विषुव है। विषुव दो प्रकार के होते हैं। एक में ऊपर से नीचे की ओर गति और दूसरे में नीचे से ऊपर की ओर गति है। बिल्कुल बीच में विषुव को बैसाखी कहते हैं। भूगोल के विद्यार्थी की दृष्टि से जब सूर्य ठीक पृथ्वी के मध्य पर, शून्य अक्षांश पर आता है, उसे विषुव कहते हैं। वह दो बार आता है—मेष की संक्रान्ति पर और तुला की संक्रान्ति पर आता है। एक बार सूर्य ऊपर से नीचे की ओर जाता है, दूसरी बार नीचे से ऊपर की ओर जाता है। यही मध्य है। इस समय इडा पिंगला की गति दाईं या बाईं तरफ नहीं है, केवल मध्य में है। यही विषुव है। उसी को आद्य विषुव अर्थात् वैशाख मेष संक्रान्ति कहते हैं। जब वह ऊपर की तरफ मूर्धा तक पहुँच जायेगा, वही अन्त्य विषुव तुला संक्रमण हो जायेगा। मूर्धा (ऊपर) की तरफ जाते हुए बाईं तरफ से लौट आया तो चन्द्रग्रहण हो गया, क्योंकि बाईं तरफ चन्द्रमा है, इसलिये कन्द स्थान से मूर्धा स्थान में पहुँचकर बाईं तरफ लौटा तो चन्द्रग्रहण हुआ और यदि दाईं तरफ से लौट आया तो सूर्य ग्रहण हो गया। इस दृष्टि से काल हुआ।

देश का क्या स्वरूप हुआ? शिर ही श्री पर्वत हो गया; ललाट केदार क्षेत्र, कुचस्थान (छाती) कुरुक्षेत्र और हृदय का मध्य भाग

प्रयाग हो गया। यह देश और काल की जो उपासना है, वह साधार से निराधार में ले जायेगी। विषुव, अयन (उत्तरायण, दक्षिणायन) तथा ग्रहण बता दिये। यह सब हमेशा अन्दर चल रहा है। बाहर के तीर्थ तभी तक आवश्यक हैं, जब तक अन्दर के तीर्थ मिल नहीं जाते। लेकिन जब ये अन्दर का काल और अन्दर का स्थान पकड़ में आ जाते हैं उस समय बाहर का चिंतन व्यर्थ है क्योंकि सारे पुण्यों की संधि तो आत्मतीर्थ में है। जब तक बढ़िया रबड़ी खाने को न मिले तभी तक फुलके से पेट भरते हैं। ऐसा नहीं कि फुलके खाने छोड़ दिये, लेकिन तब तक जब तक रबड़ी मिले। इसी प्रकार बाहर के तीर्थ तब छोड़ें जब अन्दर का तीर्थ मिले, नहीं तो तब तक बाहर ही करना है। यही भावतीर्थ परम तीर्थ है। यहाँ तीर्थ मायने केवल देश नहीं, काल को भी बताया। शास्त्र अनुज्ञात स्थल शास्त्र ने जिन-जिन चीज़ों की आज्ञा दी, उसे तीर्थ कहते हैं। इसीलिये आज्ञा देने वाले गुरु जी को भी तीर्थ कहते हैं और साथ पढ़ने वाले को सतीर्थ्य (सहपाठी) कहते हैं क्योंकि दोनों का एक ही तीर्थ है। सारे कर्मों में जिस-जिसकी शास्त्र ने आज्ञा दी है, वहाँ असली प्रमाण यह भावतीर्थ है।

जब साधक इस प्रकार करता है, तब कुण्डलिनी जाग्रत् होती है। जब कुण्डलिनी जाग्रत् होगी तब वहाँ गर्मी पैदा होगी। अब तक जो अग्नि नाभि में थी अथवा अब तक जो ऊपर के आनंद आदि को जला रही थी, तब वह अग्नि कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करने में लग जाती है। जब अग्नि पूर्ण रूप से प्रज्वलित हो गई तब कुण्डली प्रबुद्ध हो गई और अब वह उस रंध्र के अन्दर सुषुम्ना में प्रविष्ट हो गई। अपने फण को उसने उस रंध्र में कर दिया

और सुषुम्ना को भेद दिया। जब फण अन्दर गया तो जो सुषुम्ना का दरवाजा अब तक बन्द था, वह खुल गया। जैसे ही वह विवर खुल गया, वैसे ही जैसे आकाश के अन्दर सूर्य चमक जाता है, इसी प्रकार सुषुम्ना के अन्दर आनंद चमक जाता है। इडा-पिंगला के स्थलों में घूमती हुई सुषुम्ना बन्द थी, इसीलिये तो आनंद नहीं मिला।

लेकिन इतने से यह नहीं समझना कि काम खत्म हो गया, अभी तो काम शुरू हुआ है! इसलिये आगे सावधान करते हैं। अब शनैः शनैः सुषुम्ना में गति करो। आनंद का स्फुरण आकाश में सूर्य की तरह हो गया लेकिन अनंतता अभी नहीं आई। अब अग्नि की रक्षा करते हुए अर्थात् गर्मी को बचाते हुए धीरे-धीरे सुषुम्ना को आगे गतिमान् करो। 'आमूर्ध्ना' जब तक मूर्धा स्थल तक सुषुम्ना का प्रवेश न हो जाये, तब तक चलते रहो और इस सब का साधन ओंकार-स्मरण है, क्योंकि ओंकार ही एक बचा है। यही अग्नि, जो कुण्डलिनी को ऊर्ध्वमुख करेगी, बिम्ब हो गई। यही भगवती के बिम्बोष्ठ हैं।

'शिववामभागनिलयां' यही शिव का वाम अर्थात् सुन्दर भाग है। संस्कृत में वाम शब्द का अर्थ सुन्दर होता है। पत्नी को भी वामा कहते हैं क्योंकि औरत सुन्दर मानी गई है। यहाँ 'शिववामभागनिलयां' कहने का कारण है कि साधना का जो सौन्दर्य है, वह सिद्धि का भी नहीं है ! सिद्धि की स्थिति में भी सुन्दरता है। मोटी भाषा में खाने का जो मज़ा है, वह पेट भरने का नहीं है। मज़ा तो पेट भरने का भी है लेकिन खाने के रस में जो मज़ा है वह केवल पेट भरने में नहीं है। कुछ भी खाओ,

पेट तो उतना ही भरना है। इसी प्रकार सिद्धि की अपेक्षा भी साधना में अधिक रस है। जितनी देर साधना करो, हमेशा याद रखो कि उसमें रसाभिव्यक्ति ज़्यादा-ज़्यादा हो। यह नहीं कि केवल सिद्धि प्राप्त करो, बल्कि अनंत प्रकार की साधनायें करते रहो। सामवेद की छांदोग्योपनिषद् में बताया कि जितना बड़ा बाह्य जगत् है, उतना ही बड़ा आभ्यंतर जगत् है अर्थात साधना का जगत् भी अनंत है।

'ध्यायेज्जगन्मोहिनीं' देवी सारे जगत् का मोहन करने वाली हैं। जगत् का अर्थ होता है 'गच्छति इति जगत्।' अर्थात् जो जाये उसी को मोह में डाल देती हैं, उसी को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेती हैं। 'जाना' के दोनों मतलब होते हैं, पैरों से जाना और बुद्धि से जानना। जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहीं भगवती मोह लेती हैं। इसीलिये जो व्यक्ति परमेश्वर के सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं हुआ उसे लोग कहते हैं कि 'यह तो जड है।' परमात्मा के अन्दर ज्ञानमात्र होने से मोहन की बड़ी विचित्र शक्ति है।

एक कथा आती है कि आमेर के राजा मानसिंह हुए हैं जो महाराणा प्रताप के समकालीन और अकबर के सहयोगी हो गये थे। इतिहास के बहुत से विद्वान् कहा करते हैं कि जयपुर के महाराजा मानसिंह थे। थोड़ी देर बाद उनसे पूछो कि 'मिर्जाराजा जयसिंह कौन थे ?' तो कहते हैं कि वह मानसिंह का पोता था। तब पोते के बसाये राज्य का राजा उसका दादा कैसे होगा ? यह नहीं जानते। पहले उस देश की राजधानी आमेर थी। अभी भी किला वहाँ है। वहाँ भगवती की सुन्दर मूर्ति है। उसे राजा मानसिंह बंगाल से जीतकर लाये थे और वहाँ स्थापित की थी। उनके एक

भाई माधोसिंह थे। माधोसिंह की पत्नी रत्नावती बड़ी भक्त हुई है। दोनों भाई बादशाह के साथ प्रायः दिल्ली रहा करते थे और फौज के मालिक थे। रत्नावती वहाँ अकेली रहती थी। वैसे ही बड़े आदमी होने में अकेले रहना पड़ता है। साधारण आदमी तो किसी से भी बात कर ले, लेकिन बड़ा आदमी सोचता है कि कोई बड़ा हो तो बात करें ! और बड़े आदमी थोड़े-से होते हैं। एक तो रानी रत्नावती वैसे ही अकेली और फिर पति भी वहाँ नहीं रहते थे। इसलिये उसके मन में धर्मग्रंथ पढ़ने की अभिलाषा हुई। धर्मग्रंथ पढ़ने से मन में विचार जाग्रत् हुआ।

उसी समय उसने सुना कि एक महात्मा चातुर्मास्य कर रहे हैं, नित्य प्रति सत्संग चल रहा है। उसने दासियों से कहा कि 'मैं भी वहाँ चलूँ।' दासियों ने कहा—'नहीं जी, वह जगह आपके जाने लायक नहीं है।' फिर आकर सुनायें कि बहुत बढ़िया सत्संग चलता है! लेकिन वे रानी को न ले जायें। अंत में एक दिन रानी कहने लगी 'मेरे शरीर का वह कौन-सा अंग है जिसे काटकर फैंक दूँ तो सत्संग सुनने को तो मिले ? आँख कान इत्यादि दोनों के एक जैसे हैं। फिर रानी नाम की क्या चीज़ है।' यह वैराग्य का प्रथम अनुभव है। जब तक अपने अन्दर विशिष्टता का आपादन है, तब तक समझना चाहिये कि हम वैराग्य से बहुत दूर हैं। अपने में विशिष्टता का आपादन छोड़ना ही वैराग्य का प्रथम उन्मेष है। वैराग्य के अंतिम उन्मेष में तो मनुष्य शरीर आदि के अभिमान को भी छोड़ देता है। तब उसकी दृष्टि है मैं मनुष्य नहीं, देवता नहीं, यक्ष नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कुछ नहीं हूँ। यह अंतिम उन्मेष है लेकिन प्रथम उन्मेष में भी 'मैं राजा, मैं रानी, मैं धनी'

आदि सब छोड़ना पड़ता है। दासी ने सोचा कि रानी ने ज़िद पकड़ ली है तो उन्हें अपने साथ ले गई। वह सत्संग सुनने गई।

परमात्मा की कीर्ति तो मधुर ही होती है। मनुष्य परमात्मा के विषय में थोड़ा-सा भी श्रवण कर लेता है तो उसका अतिदीर्घ फल होता है। जैसे अपने शरीर के परमाणु बाहर निकलते रहते हैं, कोई मनुष्य आपके पास बैठा हो तो उसकी गंध का परिचय हो जाता है। हर आदमी की गंध अलग-अलग होती है। पुलिस वाले चोर का कपड़ा आदि जो रह गया हो, कुत्ते को सुंघा देते हैं तो वह कुत्ता उसी गंध के द्वारा चोर को पकड़ लेता है। गंध तब निकलेगी जब शरीर का कुछ अंश निकलेगा क्योंकि वह गुण है। चाहे जिस जाति का शरीर हो, शरीर में से परमाणु निरंतर निकलते हैं। मछली खाने वाले के शरीर से उसके परमाणु और प्याज-लहसुन खाने वाले के शरीर से प्याज-लहसुन के परमाणु तथा केसर-कस्तूरी खाने वाले के शरीर से केसर के परमाणु निकलेंगे। उसी प्रकार अंतः करण जैसा है, उसी प्रकार के विचार के परमाणु निकलते रहते हैं। जिन लोगों के साथ रहेंगे, उनके विचार-परमाणु हमारे शरीर में प्रविष्ट होते जायेंगे और जितना घना उसमें परमाणु-समुदाय होगा उतना ही ज़्यादा उस ढंग के परमाणुओं का प्रभाव होगा। इसीलिये जब महापुरुषों का संग करते हैं तब उनके विचार-परमाणु हमारे अन्दर आने लगते हैं। किसी सत्पुरुष के साथ सत्संग करो तो थोड़ी देर बाद अनुभूति बदल जाती है क्योंकि उसके परमाणु जो आ जाते हैं।

उस सत्संग के प्रभाव से रानी के अन्दर वृत्ति कुछ-कुछ और तेज़ हो गई। एक दिन महात्मा से मिलकर कहा 'मुझे भी

परमात्म-प्राप्ति का मार्ग बताइये।' महात्मा ने कहा, 'तुम रानी हो, बड़े घर की पत्नी हो, यह रास्ता तुम्हारे लायक नहीं है, यह काँटों का रास्ता है।' परमात्मा के मार्ग में जाने का रास्ता काँटों का ही तो है, महान् ऊबड़-खाबड़ रास्ता है। उस पर चलने वाले लहू-लुहान हो जाते हैं। आँसू बहना और हृदय की भट्टी का जलना तो वहाँ दिन-रात चलता है। परमात्मा के पास पहुँचने पर तो परम आनंद की प्राप्ति हो जाती है, लेकिन रास्ता महान् कठिन है। अब तक तुमने अपने चारों तरफ संसारियों को बसा रखा है। जितनों के साथ आज तक अपना रास्ता बना रखा है, वे सारे संसारी हैं। तुम जहाँ परमात्मा की तरफ़ चले वहीं उन्होंने सोचा कि यह हाथ की चिड़िया उड़ी, अब तक हमारा कार्य सिद्ध करती थी, अब नहीं करेगी, इसलिये वे ही काँटे बन जाते हैं और वही हृदय में भट्टी जलाते हैं। हृदय के पुराने संस्कार फिर उधर खींचते हैं। वह आग बढ़ती रहती है। इसीलिये महात्मा ने कहा कि इस रास्ते न आओ। लेकिन जैसा कि अभी बताया था, वह तो जगन्मोहिनी है। एक बार उधर चल पड़े तो उसका मोह तीव्र हो जाता है। रानी ने कहा—'अब नहीं रहा जाता, मार्ग बता ही दो, चाहे जैसा हो।' महात्मा ने देखा कि योग्य साधिका है, वैराग्य की दृष्टि है तो उपदेश दे दिया। वह अभ्यास करने लगी।

घर वालों में दूर-दूर तक चर्चा का विषय बन गई। होते-होते माधोसिंह के पास एक दिन खबर पहुँची कि 'तुम्हारी रानी तो मोड़ों के साथ (मारवाड़ी में संन्यासी को अवज्ञारूप में मोड़ा कहते हैं) बैठने लगी है।' राजा को बड़ा क्रोध आया। सोच ही रहा था कि तब तक उनका बेटा प्रेमसिंह किसी काम से वहाँ पहुँच गया।

माधोसिंह गुस्से में था, उसे देखते ही कहा—'आओ मोड़ी का।' वह बेचारा समझा नहीं कि क्या बात है। देखा कि पिता गुस्से में हैं। लोगों से पूछा तो उन्होंने कहा कि 'तुम्हारी माँ साधुओं का संग करती है, इसलिये इन्होंने मोड़ीका कहा।' पुत्र के संस्कार भी अच्छे थे। यह सुनते ही कहा कि 'पिता जी को कह देना कि मैं तो मोड़ा बना। मैंने उनकी आज्ञा मान ली।' और माँ को खबर भेज दी कि 'मैं भी इस रास्ते चल पड़ा।' जब माधोसिंह को यह खबर मिली तो बड़ा गुस्सा आया। अब उसका पीछा करने लगे। अंत में प्रेमसिंह पकड़ा गया। उसे लेकर वह आमेर पहुँचे। यद्यपि उन्होंने रत्नावती और प्रेमसिंह के साथ प्रयत्न किया कि किसी प्रकार से साधना का परित्याग करें, यहाँ तक कि प्राण लेने पर उतारू हो गये लेकिन उनके हाथ असफलता ही लगी। जब देखा कि क्रोध से काम नहीं चलता तो फिर रानी को प्रसन्न करने लगा, हर तरह से उसकी प्रशंसा करने लगा। अंत में कहा कि 'तुम दिन-रात साधना में लगी रहती हो, जगन्मोहिनी मूर्ति को देखती रहती हो, तो मेरी तरफ भी कभी देखो।' तब रानी ने उन्हें जवाब लिखकर भेजा कि तुम्हारी जो मर्ज़ी सो उपाय कर लो, लेकिन हमको तो केवल उस जगन्मोहन का ही दर्शन करना है, तभी तो मैं जी सकती हूँ क्योंकि वह तो हमारे हृदय में ऐसा आकर अड़ गया है कि तुम कुछ भी करो, निकलने वाला नहीं है। मैं क्या कर सकती हूँ, आँखें वहाँ से हटती ही नहीं हैं।' अंत में राजा ने कहा कि 'मेरा धन इत्यादि ले लो और उससे तुम जो चाहो सो करो।' उसने कहा 'मुझे तुम्हारा धन नहीं चाहिये।' माधोसिंह कहने लगे कि 'मुझ से कोई चीज तो माँग लो।' तब रानी ने कहा

'मैं यही माँगती हूँ कि मुझे अपनी इस साधना और ध्यान में लगा रहने दो, बस और मुझे कुछ नहीं चाहिये।'

थोड़े दिन व्यतीत हुए। एक दिन मानसिंह और माधोसिंह दोनों यमुना पार कर रहे थे। उस समय यमुना बहुत ज़बरदस्त नदी थी। व्यापार-केन्द्र दिल्ली था। उस दिन यमुना में बड़ी भयंकर बाढ़ आई। नाव डूबने लगी। मानसिंह माधोसिंह से कहने लगे कि 'तुम तो तैरना जानते हो, मैं नहीं जानता, अब क्या होगा ?' माधोसिंह के मुँह से निकला कि 'पता नहीं, लेकिन आपकी भाभी अर्थात् मेरी पत्नी परमेश्वर का भजन करती है, उसका ध्यान करो तो बच जायें।' भगवान् तो खेल करने को तैयार रहते हैं। जैसे ही उसका ध्यान किया, दोनों बच गये। अब धीरे-धीरे हृदय बदला। बाद में तो वे स्वयं भी भक्ति-मार्ग में लगे।

यहाँ बता रहे थे कि किस प्रकार से साधना के मार्ग में अनेकों कठिनाइयाँ आने पर भी मनुष्य को अड़े रहना पड़ता है। तभी उसकी आगे प्रगति होती है, अन्यथा नहीं। यह मार्ग ऐसा है जहाँ धीरे-धीरे बढ़ना है, जल्दी का मार्ग नहीं है। जब तक मूर्धा में नहीं पहुँचोगे तब तक तरह-तरह की कठिनाइयाँ आयेंगी, उन सब में डटते हुए जाना है। हम सुषुम्ना तक जा सकेंगे, यह नहीं, लेकिन वह इतनी मोहिनी मूर्ति है कि एक बार जहाँ उसकी तरफ दृष्टि की, वह स्वतः ही आकृष्ट कर लेती है और हमें मूर्धा पर्यन्त ले जायेगी। मूलाधार में भगवती के कारुण्य से पहुँचना है। जब वहाँ पहुँचते हैं तभी कार्य पूरा होता है।

ॐ

परिशिष्ट—१

सनातन धर्म का सन्देश

आत्मपथ के पथिको ! आज का दिन हिन्दू पंचांग के हिसाब से वर्ष का अन्तिम दिन है। कल से संवत्सर का प्रारंभ होता है। जिस प्रकार प्रत्येक दिन हमारे सामने एक नई चुनौती लेकर आता है, एक नये वातावरण को उपस्थित करता है, और हम सर्वथा स्वतंत्र हैं उस दिन का किस प्रकार से उपभोग करें, इसी प्रकार नव संवत्सर भी आता है, जीवन को कुछ विचारपूर्वक नया मोड़ देने के लिए। वैदिक हमेशा परमेश्वर से प्रार्थना करता है—'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।' प्रार्थना करता है—'हे परमात्मन् ! आप व्रतपतिं है। व्रतों की रक्षा करने वाले हैं। व्रत पालन करने वाले के प्रति आशीर्वाद की दृष्टि देने वाले हैं।' जीवन में दो तरह के लोग होते हैं—व्रती और अव्रती। व्रत का अर्थ होता है चुनना। व्रती वह है जो जीवन में किसी उद्देश्य को चुनता है। अव्रती वह है जो जीवन में किसी उद्देश्य को चुनता नहीं, जीवन को बहने देता है बिना किसी उद्देश्य का निश्चय किये हुए। इसलिए ऐसा व्यक्ति जीवन की संध्या में असन्तुष्ट होता है, दुःखी होता है, अपने आप को अपूर्ण अनुभव करता है।

जो व्रती होता है, जिसने किसी लक्ष्य को निश्चित किया है, वह जानता है कि प्रतिदिन प्रतिवर्ष में कितना आगे चलकर आया हूँ, कितने मार्ग को मैंने पार किया है, कितना मार्ग मेरे लिए

अवशिष्ट है, बाकी है। अतः उसको जीवन में पूर्णता का बोध होता है कि मैं लक्ष्य की तरफ जा रहा हूँ। जीवन की संध्या में उसको हताशपने का अनुभव नहीं होता। प्रायः मनुष्य अव्रती हुआ करते हैं और इसीलिए उनको परमेश्वर की सहायता उपलब्ध नहीं होती, मिलती नहीं। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है मुझे अपने कार्य को पूर्ण करने के लिए कोई महद् शक्ति सहायता दे परन्तु सहायता लेने के लिए जो सहायता देना चाहता है उसको पता भी तो लगे कि तुम क्या चाहते हो ! हम लोगों की चाहना के अन्दर कोई तीव्रता नहीं है क्योंकि कोई लक्ष्य नहीं है। जिस क्षण जो चीज़ सामने आ गई लगता है बस यही सबसे बड़ी परिस्थिति और सबसे बड़ी चीज़ हैं। जब वह चीज़ बीत गई तब उसका महत्त्व कुछ नहीं रह जाता, क्योंकि लक्ष्य निर्णीत नहीं है। परमेश्वर को संबोधन करते हुए कहा गया कि व्रत की रक्षा करने वाले हो। जो व्यक्ति अपने जीवन में लक्ष्य निश्चित कर लेता है उसको परमेश्वर अवश्य मदद देता है।

परमात्मा जीव को पूरी तरह से मदद किधर जाने के लिए देना चाहता है ? परमेश्वर ने सारे वेदों में एक लक्ष्य निर्णीत कर दिया 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' वेद में कहीं अन्य किसी चीज़ के लिए यह नहीं कहा है कि यह चीज़ ही जीवन में प्राप्त करने के योग्य है। कामनाओं को पूर्ण करने के अनेक साधन अनेक जगह बतलाये। यदि तुमको स्वर्ग की कामना है तो ज्योतिष्टोम यज्ञ करो। यदि तुमको वृष्टि की कामना है तो कारीरी याग करो। यदि तुमको यह कामना है तो यह करो—ये बातें तो वेदों ने बहुत कही परन्तु बिना किसी कामना को लिए हुए स्वयं वेद कहे कि

यही लक्ष्य है यह केवल एक जगह कहा है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' जीवन का लक्ष्य आत्मज्ञान है। परमात्मा का साक्षात्कार—यही वस्तुतः जीवन का लक्ष्य है। वेद ने परमात्मा को अग्नि नाम से संबोधित किया। जो मनुष्य को आगे ले जाता है उसे अग्नि कहते हैं। आत्मज्ञान ही वास्तविक अग्नि है। गीता में भी 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्मांणि' ज्ञान को अग्नि बताया। आत्मज्ञान को लक्ष्य करके मैं चलूँगा यही सर्वश्रेष्ठ चुनाव है, व्रत है। नया संवत्सर आ रहा है। इसमें व्रत लो कि 'हे परमेश्वर ! मैं अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करके चलूँगा। आपके द्वारा निर्णीत जो व्रत है, जो वरण करने के लायक है, उसका मैं वरण करूँगा और उसके लिये मैं चलूँगा। मैं ऐसा कर सकूँ इसकी सामर्थ्य आप दें। जीवन में अनेक बार मनुष्य अनेक प्रकार के संकल्प लेता है परन्तु उनके ऊपर स्थिर नहीं रह पाता। बुद्धि में दृढता नहीं है कि जिसे एक बार चुन लिया उसके ऊपर स्थिर रहे। आपकी कृपा से ही संभव हो सकेगा कि हम इस व्रत का पालन कर सकें। आप मुझे ऐसा समृद्ध करें, मेरी बुद्धि को ऐसी दृढ करें कि इसकी प्राप्ति हो सके।'

आत्मदर्शन ही सनातन धर्म का सबसे बड़ा संदेश है। निरन्तर हम लोग बहिर्मुखता में जा रहे हैं, बाहर की तरफ जा रहे हैं। यह सहज है, स्वाभाविक है। उपनिषद् कहती है कि मनुष्य को बनाया ही ऐसा गया है कि इंद्रियों के द्वारा वह निरन्तर बाहर जाये। बाहर जाने में हर्जा नहीं है लेकिन बाहर जाने के बाद वापस अन्दर लौट कर देखो तो सही ! बाहर जाना सहज और स्वाभाविक है। ब्रह्मा जी ने हम लोगों को बनाया ही ऐसा कि सहजभाव से

बाहर जायें। इसके लिए कोई उपदेश देने की ज़रूरत नहीं है। परन्तु उपदेश इस बात का देना पड़ता है कि बाहर जाने के बाद अन्दर आ कर देखो तो सही—कहाँ गये थे, क्या करके आये हो, क्या इससे तुमको कुछ उपलब्धि हुई है, क्या कहीं पहुँचे हो ? यही समृद्धि है जिसकी तरफ वेद हम लोगों को संकेत देता है। आत्मदर्शन इसीलिए उद्देश्य है, क्योंकि बहिर्गमन तो सहज और स्वाभाविक है। उसके लिए बड़े प्रयत्न की ज़रूरत नहीं है। अन्दर आने के लिए प्रयत्न आवश्यक है। सारी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य यही है कि हम अन्दर की तरफ जाना सीखें।

उस दर्शन का साधन क्या है ? कैसे सीखेंगे ? शास्त्रकार कहते हैं

'मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।

शमो विचारः सन्तोषः चतुर्थस्साधुसंगमः।।'

अपने आपको न जानने के कारण हम बँधे हुए हैं, अज्ञान के कारण हम बँधे हुए हैं। हमको बाँधने वाली कोई और चीज़ नहीं है। वेद कहता है कि तुम तो अमृत के पुत्र हो। जो अमृत का पुत्र है उसके अन्दर मृत्यु का स्पर्श आ कहाँ से सकता है ! मृत्यु का मतलब केवल शरीर से प्राण का निकल जाना मात्र नहीं है। जो भी हमें सीमित करे, जो भी हमें परिच्छिन्न करता है, जो भी हमारी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को रोकता है, वही वस्तुतः मृत्यु है। लोग सोचते हैं आदमी एक दिन मरा, परन्तु विचार करने वाला जानता है कि जिस दिन से पैदा हुआ उस दिन से मरना शुरू हो गया ! अंग्रेज़ी भाषा में कहने की एक बड़ी अच्छी शैली

है : यदि दो महीने का भी बच्चा है, पाँच दिन का भी बच्चा है तो अंग्रेज़ी में उसको कहते हैं 'यह पाँच दिन बुड्ढा हो गया!' जिससे तुमको याद रहे कि निरन्तर मृत्यु के पास जा रहे हो।

हम अमृत के पुत्र हैं इसलिए सारे बंधनों से रहित हैं परन्तु हम अज्ञान के कारण ऐसे बंधन में बँधे हुए हैं कि हम अपने शरीर और मन से आगे कुछ और देख ही नहीं सकते। ऐसी परिस्थिति में फँसे हुए हैं। आजकल जगह-जगह शिक्षा के बारे में बातचीत होती है। बड़ी दयनीय स्थिति है। बार-बार कहा जाता है कि शिक्षा ऐसी हो जो तुमको रोजी रोटी दे सके। क्या यही शिक्षा का उद्देश्य है कि हम रोजी रोटी कमा लें ? इसी का नतीजा है कि सारे लोग इस शिक्षा को प्राप्त करने के बाद निरन्तर यही सोचते रहते हैं कि हम अपनी कमाई कैसे बढ़ावें क्योंकि शिक्षा ही इस बात की दी गई है। सनातन धर्म ठीक इसके विपरीत कहता है। रोजी रोटी कमाने में तो खुद प्रवृत्ति होती है। शिक्षा उसको इस बात की देनी है कि वह अपने ऊपर नियंत्रण कैसे करे। आचार्य शंकर कहते हैं 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणाम्।' ज्ञान वह है जो तुमको इंद्रियों का नियंत्रण सिखाये। शिक्षित व्यक्ति और अशिक्षित व्यक्ति में भेद क्या है ? आज के समाज की मान्यता है शिक्षित व्यक्ति बड़े पद पर पहुँच करके ज़्यादा कमा सकता है। अपठित व्यक्ति कम कमा कर दुःखी रह सकता है। बस यही शिक्षा का उद्देश्य नजर आ रहा है। इसीलिए बी. ए. पास की अपेक्षा एम. ए. पास वाले को अधिक धन मिलेगा, अधिक तन्खाह मिलेगी। सनातन धर्म कहता है कि शिक्षित व्यक्ति का यह चिह्न नहीं है कि वह ज्यादा कमाता है। 'विद्या ददाति विनयं' शिक्षित

व्यक्ति वह है जो अत्यन्त विनीत है। जिसके अन्दर जितना ज़्यादा विनय है वह उतना शिक्षित है। धन कमाने से शिक्षा का निर्णय नहीं हो सकता। सनातन धर्म कहता है शिक्षा का उद्देश्य है तुम ऐसी श्रेष्ठता को प्राप्त करो जिसकी कीमत, जिसकी कसौटी स्वयं तुम हो। शिक्षा ही एक ऐसी चीज़ है जो बाहर दिखाने की नहीं है। शिक्षा अपने अन्दर के आनन्द के लिए है। इसलिए हमारे जितने बड़े लेखक हुए हैं वे बार-बार कहते हैं कि हम अन्तःसन्तुष्टि के लिए लिख रहे हैं, अन्दर के आनन्द के लिए लिख रहे हैं। कितनी किताब बिकेगी—यह सोच कर नहीं लिख रहे हैं ! जब शिक्षा का सम्बन्ध रोजी रोटी से होगा तो लेखक ऐसी बात लिखेगा जिसमें हल्ला-गुल्ला बहुत मचे। चाहे अपनी जान पर भी आवे लेकिन सबसे ज़्यादा किताबें बिक कर सबसे ज़्यादा धन तो लेखक कमा ही लेगा। इस दृष्टि का मूल्य ही यह है। शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजी रोटी नहीं है। वह तो बड़ी मामूली चीज़ है। इंद्रियों का नियंत्रण सिखाना है क्योंकि इंद्रियों का नियंत्रण सीखने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होगी।

हैं हम अमृत के पुत्र परन्तु अज्ञान के कारण हम अपने इस मुक्ति पद से मानो गिरे हुए हैं। गिर तो कभी सकते नहीं क्योंकि जो चीज अज्ञान से हुआ करती है वह किसी फल को उत्पन्न नहीं करती। इसलिए हमारा वस्तुतः पतन नहीं है। परन्तु प्रातीतिक पतन है, प्रतीत हो रहा है।

मोक्ष की प्राप्ति कैसे करें ? चार उपाय बताये। सबसे पहलां बतलाया शम, इंद्रियों का नियंत्रण। जितना-जितना इंद्रियों का नियंत्रण किया जाता है उतनी-उतनी सामर्थ्य और शक्ति बढ़ती

है। एक बड़ा सीधा सरल प्रयोग करके देखिये। जितना भी आप नमक खाते हैं उससे प्रतिदिन थोड़ा नमक कम कर दीजिए। एक-एक, दो-दो दाने कम करते चले जाइये। प्रयोगात्मक जगत् है, वैज्ञानिक युग है। दो महीने में देखोगे नमक आधा हो गया पर किसी को शिकायत नहीं होगी कि नमक कम हो गया है। फिर दो महीने या तीन महीने के बाद जितना आप पहले नमक डालते थे उतना ही नमक डालिए, सब कहेंगे 'अरे ! आज बहुत खारी सब्ज़ी बनी है।' अथवा मीठे के लिये प्रयोग करके देख लीजिए।

आज से साठ साल पहले राजस्थान के अन्दर बीकानेर में जब ब्रह्मभोज होता था, ब्राह्मणों का भोजन होता था तब चार गुणी चीनी डालते थे लड्डू बनाने में। वहाँ एक लड्डू बनता है जिसे ओले का लड्डू कहते हैं। उसमें केवल शक्कर ही होती है, और कुछ नहीं। वहाँ प्रसिद्धि है कि एक बार किसी ने ब्रह्मभोज में ओले का लड्डू दिया। यजमान ने हाथ जोड़कर पूछा 'महाराज ! कमी तो कोई नहीं है ?' ब्राह्मण बोले 'लड्डू में चीनी कम है।' यदि निरन्तर चीनी ज़्यादा डालते जाओगे तो अन्त में चीनी भी फीकी लगने लगेगी ! दो महीने के बाद यदि तुमको पहले जितना नमक खारा लगता है तो इसका मतलब है कि तुम्हारी जीभ में शक्ति आ गई है जो थोड़े से नमक को भी ग्रहण करती है। जितना ज़्यादा उसको खिलाते जाओगे उतनी उसकी शक्ति कुंठित होती चली जायेगी।

हम लोगों को यह गलत धारणा बताई जाती है कि इंद्रियों का जितना प्रयोग करोगे उतनी उनकी सामर्थ्य बढ़ेगी। ठीक इसके

विपरीत जितना नियंत्रण किया जायेगा उतनी ही सामर्थ्य बढ़ेगी। पहला साधन इसीलिए शम को बतलाया। शम की सबसे बड़ी विशेषता यही है, वस्तुतः सारी आत्मसाधनाओं की यह विशेषता है कि इसमें प्रतियोगिता नहीं है। संसार के जितने पदार्थ हैं उनमें प्रतियोगिता है। यदि भारत के आम रूस वालों को खाने को मिलेंगे तो भारत वालों को खाना कम मिलेगा। उसके बदले मिट्टी का तेल ले आओ, डीजल ले आओ, जो ले आओ, आम तो नहीं मिलेगा। अगर यूरोप वालों को बासुमती चावल जायेगा तो यहाँ चावल कम हो जाएगा। परन्तु ऐसा नहीं है कि यदि हमने इंद्रियों का नियंत्रण कर लिया तो किसी अन्य देश वाले को इंद्रियों का नियंत्रण नहीं हो पायेगा ! या हम शम का अभ्यास करते हैं तो हमारे पड़ोसी का शम का अभ्यास कम हो जायेगा, ऐसा नहीं है। आत्मा की साधना की सबसे बड़ी विशेषता है कि आपस में प्रतियोगिता नहीं है, उल्टा आपस में सहकारिता है। यदि साथ वाला इंद्रिय को तेज रखना चाहता है इसलिए पूरे ज़ोर से अपना रेडियो बजाता है तो हमारी शान्ति भंग होगी। परन्तु यदि वह शांति से बैठा है तो मेरी शांति में कोई विघ्न नहीं डालेगा। आत्मा के मार्ग में चलने की सबसे बड़ी उपलब्धि ही है कि इसके अन्दर सहकारिता की शिक्षा संभव होती है। आज हम जिस परिस्थिति में पहुँचे हुए हैं उसके अन्दर प्रतियोगिता की भावना के द्वारा संघर्ष बढ़ता चला जा रहा है। सहकारिता के बारे में बात कही जाती है परन्तु सहकारिता तब तक नहीं आ सकती जब तक आत्मकेन्द्रित हमारी विचारधारा प्रवृत्त न हो क्योंकि सहकारिता की शिक्षा वहीं मिलती है।

शम भी कैसा होना चाहिए ? विचार-सहकृत। अतः विचार को दूसरा द्वारपाल कहा। बहुत से लोग इंद्रियों को केवल भूखे मारने से ही समझते हैं कि इंद्रियों पर नियंत्रण हो जायेगा ! हम रूप नहीं देखेंगे इतने मात्र से ठीक है कि आँखों की शक्ति कुछ तीव्र हो जायेगी; हम नमक नहीं खायेंगे तो जीभ की शक्ति कुछ तीव्र हो जाएगी; परन्तु केवल इतने मात्र से जो वास्तविक आन्तरिक शांति आनी चाहिए वह नहीं आ पायेगी। शम हठ के द्वारा भी किया जा सकता है; अन्दर-ही-अन्दर पदार्थों की कामना रखकर, हठ के द्वारा हम बाहर की इंद्रियों को रोक सकते हैं। उसके द्वारा इंद्रियों की सामर्थ्य बढ़ेगी इसमें संदेह नहीं है। परन्तु इंद्रियों की सामर्थ्य बढ़ने पर भी हमारी आन्तरिक शांति नहीं आयेगी। इसलिए शम कैसा हो ? यह स्पष्ट करने के लिये कहा कि उसके साथ विचार जाग्रत् होना चाहिए। हम लोगों के व्रतों के यदि नियम आप देखेंगे तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा। चातुर्मास्य व्रत के लिये नियम बताया—

'श्रावणे वर्जयेच्छाकं दधि भाद्रपदे त्यजेत्।

दुग्धं तथाश्विने मासे कार्तिके द्विदलं त्यजेत्।।'

श्रावण के महीने में हरा साग न खायें। भाद्रपद के महीने में दही न खायें। आश्विन में दूध न पियें। कार्तिक के महीने में दाल न खायें। नियम है कि जितना तुम महीने भर में खाते उतना पूर्णिमा के दिन, जब श्रावण आदि की पूर्णिमा आवे तब, दान करो। 'मैंने नहीं खाया' इतना ही नहीं बल्कि उसे वितरित करना है, दूसरों को देना है।

इसी प्रकार हमें इंद्रियों का नियंत्रण करना है। उसके साथ इंद्रियों के नियंत्रण के द्वारा जिस-जिस भोग को हमने नहीं भोगा वे भोग ऐसे लोगों को देने हैं जिन्हें उन भोगों की आवश्यकता है, वितरण करना है। जब हमारे पास दूसरे को वितरण करने के लिये बचे तभी न हम वितरण कर सकेंगे ! आज से पच्चीस साल पहले तक साधारणतया किसी से पूछते थे 'भाई ! कैसे हो ?' तो कहते थे 'ठीक हैं, भगवान् का दिया सब है। आनन्द से चल रहा है।' और आज बड़े-से-बड़े व्यक्ति से पूछो तो उसकी समस्या यही है कि 'क्या बतावें ! गुज़ारा चलता नहीं।' क्या कारण है? पहले जिसके पास छह धोती होती थी वह अपने को बड़ा आदमी समझता था। सामान्यतः तीन धोतियों से काम चलाते थे। गाँवों का जीवन आप लोगों में से कुछ को याद होगा : तीन भाइयों के बीच एक बढ़िया धोती होती थी ! खास कर ब्राह्मणों के घरों में। जिसे विशेष जगह जाना हो वह उसे पहन लेता था, बाकी पुरानी धोती, गमछे से काम चलता रहता था। घर आकर वह भी अपना अंगोछा पहन कर कार्य में लगता था। पदार्थोप-लब्धि की इस स्थिति में भी सबका अनुभव था 'हमारे पास काफी है, पर्याप्त है, कोई कमी नहीं है। पहनने को कपड़ा तो है ही।' आज जिसके पास साठ कपड़े हैं उसके मन में भी अलम्बोध नहीं है, पर्याप्तता का बोध नहीं है कि हमारे पास पूरा है। 'हमारे पास क्या नहीं है'—इसी का निरन्तर चिन्तन चलता है कि ये-ये चीज़ें और हो जायें। यह कारण है कि हम विचार नहीं करते कि पदार्थों का जितना संग होगा, उतने ही उनके संस्कार पड़ेंगे। पदार्थ जड हैं। पदार्थों का जितना संग होगा उतना ही हमारे अन्तःकरण पर

जडता बढ़ेगी। जितनी जडता बढ़ेगी उतना आनन्द होना तो संभव ही नहीं है क्योंकि जडता और आनन्द एक दूसरे के विरोधी हैं। अतः जितने हमारे पास पदार्थ बढ़ते हैं उतना ही हमारे लिए कष्ट का कारण बनते हैं, सुख का कारण नहीं।

सनातन धर्म कहता है कि इंद्रियों पर नियंत्रण करो; जब तुम अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण करोगे तब तुम्हारे पास ऐसे पदार्थ होंगे जो तुम दूसरों को बाँट सकोगे। इसी विचारधारा का फल था कि तीस साल पहले तक तीर्थों में, प्रत्येक गाँव में लोग धर्मशालायें बनवाते थे। जिसके पास धन होता था वह सोचता था कि 'ऐसा स्थान बन जाए जो ब्याह-शादी में लोगों के काम आवे।' थोड़ा धन होता था तो आदमी सोचता था 'कुआँ बना देवें।' कुछ नहीं होता था तो रास्ते में एक आम का या नीम का पेड़ ही लगा देते थे कि कम-से-कम आने जाने वालों को छाया तो मिलेगी। मूल भावना थी कि अपने और अपने घरवालों के लिये करना पर्याप्त नहीं, सारे समाज की कुछ-न-कुछ सेवा हर-एक को करनी चाहिये। प्रत्येक चाहता था कि मेरे द्वारा कुछ होवे जिससे दूसरों को कुछ मिले। समाज में भी उसी को सम्मान दिया जाता था जिसने इस प्रकार का कोई कार्य किया हो, केवल अपनी संपत्ति बढ़ाते जानेवाले को सामाजिक संमान नहीं मिलता था।

आज परिस्थिति ठीक विपरीत है। बुरा मत मानना ! दादाजी तो धर्मशाला बना गये। हमने उस धर्मशाला को व्यवसायशाला बना रखा है : धर्मशाला में कोई टिकना चाहता है तो दस-पन्द्रह रुपये रोज़ के उससे लेते हैं। नीचे जगह है तो बराम्दे में दुकानें निकाल लेते हैं। पूर्वज देने की दृष्टि वाले थे, हम दिये हुए से

भी लेने की, कमाने की दृष्टि वाले हैं ! प्राचीन काल में कोई मन्दिर बनाता था तो साथ में कुछ ज़मीन लगा देता था जिससे भगवान् का भोग, पुजारी का खर्चा चलता रहे। आज का व्यक्ति काननू की ग़लतियों का लाभ उठाकर, ट्रस्ट आदि बनाकर स्वयं आमदनी करता है और आमदनी का लाभ उठाते हुए सोचता है कि 'मेरा धर्म हो रहा है !' 'जो मैंने न्यास बनाया, ट्रस्ट बनाया, वह मेरे ही आदेश के अनुसार, मेरी ही इच्छा के अनुसार, मेरे बेटे-पोतों की इच्छा के अनुसार चलता रहे' इस आग्रह को रखते हुए उस ट्रस्ट को दिये धन को दान मानता है ! हमारे यहाँ दान का अर्थ होता है 'स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वक अन्य के स्वत्व का आपादन।' दान का मलतब होता है मैं उस पर से अपनी सत्ता हटा लूँ और उसके ऊपर दूसरे की सत्ता कायम हो जाए। इसका नाम है दान। यदि मेरी सत्ता बनी हुई है तो दान कहाँ हुआ ?

पहले समाज की दृष्टि होती थी कि तुमने जिस व्रत का आचरण किया, तुमने जो इंद्रियों का संयम किया, उसके द्वारा जो बचा वह लोगों में वितरित होवे और जितना अधिक तुम वितरित करो उतना ही तुम्हें समाज में सम्मान या मान्यता मिले। आज विपरीत है। आज कहते हैं 'वह बहुत बड़ा आदमी है क्योंकि उसने अपनी लड़की की शादी में पाँच लाख रुपये का तो शामियाना लगा दिया था।' इतना ही नहीं, अगर कुकर्म करने-कराने में भी पैसा फूँकता है तो भी लोग कह देते हैं कि बड़ा आदमी है। कोई नहीं पूछता कि उसने समाज के प्रति क्या किया ? आज इसके बारे में समाज की कोई मान्यता नहीं है कि बड़प्पन का निर्धारण त्याग से हो। विचारपूर्वक जब चलेंगे तब

हमें सुख इस बात से होगा कि जीवन के किसी लक्ष्य को हम पूर्ण कर रहे हैं।

इस सामाजिकता के पीछे दृष्टि क्या है ? आत्मदर्शन करने वाला जानता है कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में रहने वाला आत्मा एक है। चूँकि सबके अन्दर रहने वाला एक है अतः जब तक हम सबके अन्दर बैठे हुए उस चीज़ का भोग नहीं कर रहे हैं तब तक पूर्णतः भोग हो नहीं रहा है। ठीक जिस प्रकार शरीर में हमारी इंद्रियाँ हैं : यदि कोई चीज़ अत्यन्त सुन्दर दीख रही है परन्तु साथ में काँटा तुम्हारे पैर में चुभा रही है तो क्या तुम उसको सुख समझोगे? जब तुम्हारी सभी इंद्रियाँ किसी चीज़ से सन्तुष्ट होंगी तभी न सुख कहा जायेगा। इसी प्रकार सारे अन्तःकरणों में रहने वाला आत्मा मैं हूँ। इसलिए सारे अन्तःकरणों की सुखी अवस्था के अन्दर ही मुझे सुख हो सकता है। यदि मैं एक चीज़ के सुख का भोग कर रहा हूँ और वह दूसरे के कष्ट का कारण बन रहा है तो वास्तविक सुख है कहाँ ? भगवान् कहते हैं—'यस्माद् नोद्विजते लोकोलोकाद् नोद्विजते च यः।' हमारा आचरण कभी दूसरे को उद्विग्न नहीं करना चाहिये। दूसरे के आचरण से हमें भी कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिये। जब आत्म-दृष्टि का विचार करता है, सबके अन्दर रहने वाले परमात्मतत्त्व को देखता है, तब धीरे-धीरे विकास होता है, अन्यथा विकास नहीं हो पाता। सबसे बड़ी खराबी वर्तमान में है कि बजाय कोई व्यक्ति सोचे कि सब का भला किसमें है केवल यह सोचते हैं कि 'मेरा भला किसमें है।' यह विचारधारा हमें सबसे विभाजित करती जा रही है। कहाँ तो हमें देखना चाहिये कि प्राणिमात्र में रहने वाला आत्मतत्त्व एक

है और कहाँ हम केवल अपना, अपने घर-बार आदि का ही लाभ देखकर रुक जाते हैं, उसके आगे नहीं देखते हैं। जिन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में कार्य करने के लिये चुना जाता है वे तक अपने दल के लाभ को ही सर्वोपरि रखकर देशहित का तिरस्कार करते हैं। कोई व्यक्तिगत स्तर पर यह बात कह भी नहीं सकता क्योंकि सदन में एक 'कोड़ा' चलता है, 'व्हिप इशू' होती है, कि उस दल का सदस्य हृदय से चाहे जो माने, सदन में उसे दल-नेता की बात पर हामी भरनी ही पड़ेगी। केवल राजनीति में ही नहीं, आज सारे विचारों के अन्दर इसी सोच का प्रभाव होता जा रहा है। हर संस्थान में, हर विचार के अन्दर सर्वत्र धीरे-धीरे ये दलगत नीतियाँ बनती जा रही हैं। इस दृष्टि को हटाने के लिए विचार आवश्यक है।

कहाँ तो हमारा दृष्टिकोण है एकात्मता का ! हमारा दृष्टिकोण है सम्पूर्ण राष्ट्र और उससे आगे जाकर सम्पूर्ण मानवता का। लेकिन उस एकात्मता को व्यवहार में लाने के लिए हमें भेदों को भुलाना पड़ेगा। आज भेदों को बढ़ाया जाता है। कहा यह जाता है कि प्राचीन काल से ये भेद आ रहे हैं ! प्राचीन काल में भेद थे, भेद आज भी हैं और भेद आगे भी रहेंगे। लेकिन एक होता है 'व्यवस्थित भेद' और एक होता है 'अव्यवस्थित भेद।' हमारे यहाँ जातियाँ थीं लेकिन व्यवस्थित जातिभेद था अतः *जाति व्यवस्था* थी। आज अव्यवस्थित होने के कारण वह केवल भेद रह गया। सहज स्वाभाविक रूप से किसी भी समाज के अन्दर किन्हीं विशिष्ट कार्यों को करने के लिए विशिष्ट व्यक्ति होंगे। यह व्यवस्था है। परन्तु उनके अन्दर आपस में द्वेष उत्पन्न करना-करवाना अव्यवस्था का आधार है। जिस जातिप्रथा से हिंदू

समाज अनादि काल से व्यवस्थित रहा आज उसी प्रथा को अव्यवस्था का उपाय बना दिया गया है। कुछ लोगों ने तो अपना सिद्धान्त ही बना लिया है 'आपस में लड़ाई करवाना ही हमारा उद्देश्य है !' उसका नाम उन्होंने रख दिया 'वर्गवाद।' कहते हैं कि उन्नति का तो यही मार्ग है ! विचारपूर्वक देखना है कि क्या आपस के संघर्ष से कभी शांति की प्राप्ति हो सकती है ? क्या यह संभव है ? क्या यह संगत है कि हम किसी पेड़ के कोटर में आग लगा देवें और चाहें कि वह पेड़ हरा भरा हो जाये ! संघर्ष से शांति संभव नहीं, अशांति ही हो सकती है। इसलिए शांति के लिये विचारपूर्वक अभेद-दृष्टि को लाना ज़रूरी है।

अभेद-दृष्टि को लाने के लिए हमारे ऋषियों का कैसा प्रयत्न था : चार वर्ण हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। चारों को एक ही उपदेश देकर काम चला लिया ! चारों क्या करें ? तो कहा 'सदाचरणतत्परः' ब्राह्मण सद्-आचरण में तत्पर रहे। ब्राह्मण का कार्य है शिक्षा देना। शिक्षा वही दे सकता है जो उसको अपनाये, अपने जीवन में उतारे। आज आमरण अनशन करने वाले, हड़ताल करने वाले लोगों को कहा जाता है 'ये शिक्षक हैं।' वे क्या शिक्षा दे सकते हैं ! जब उनके अन्दर स्वयं सद्-आचरण नहीं है तो आगे दूसरे को क्या शिक्षा दे सकते हैं ? इसमें सारे समाज की ग़लती है। ब्राह्मण को, शिक्षक को जो आदर देना चाहिये वह नहीं दे रहा है समाज। यह समाज की ग़लती है। लेकिन क्या शिक्षक कभी सोचता है कि 'जो हमारा अनादर कर रहे हैं वे हमारे ही तो पढ़ाये हुए हैं ! हम क्यों नहीं उनके अन्दर वह भावना भर सके कि वे शिक्षक को उच्च दृष्टि से देखें।' जो भी जिस चीज़

का शिक्षण करना चाहता है उसे उस चीज़ को अपने आचरण में लाना पड़ेगा। जो चीज़ आचरण में नहीं आयेगी उसका उपदेश कभी कारगर नहीं हो सकता।

क्षत्रिय क्या करें ? 'सदा च रणतत्परः।' क्षत्रिय रणतत्पर होवे। रण कहते हैं युद्ध को। परन्तु चाहे जिस युद्ध को रण नहीं कहा जाता है, जिसके अन्दर तुम्हारा आत्मा रमण कर सके उसी को रण कहा जाता है अर्थात् जहाँ तुम्हारे सामने आदर्श स्पष्ट है कि 'इस आदर्श को पूर्ण करने के लिए मुझे युद्ध करना है।' इसलिए हमारे यहाँ फौजों को तनख्वाह नहीं मिलती थी। फौजी लोगों को ज़मीन मिलती थी जिसकी आय से उनका कार्य चलता था। युद्ध का मौका आने पर राजा के लिये लड़ते थे। कर्तव्यबुद्धि से वे युद्ध पर जाते थे, धन के लिये नहीं। जैसे ब्राह्मण केवल दूसरे को सिखाये, शिक्षा दे इतना ही पर्याप्त नहीं, उसका जीवन ऐसा होना चाहिए जो शिक्षा दे; उसी प्रकार क्षत्रिय रणतत्पर इसलिए नहीं हो कि तनख्वाह मिलती है वरन् हम जिसे आदर्श समझते हैं, जो हमारे हृदय में रमा हुआ है, उसके लिए युद्ध करना है, उसमें तत्पर होना है।

वैश्य क्या करें ? 'सदा चरणतत्परः।' उसे हमेशा घूमना है। वैश्य का कार्य है जहाँ जिस चीज़ की आवश्यकता है, उस आवश्यकता को पूर्ण करना। वैश्य का उद्देश्य धन कमाना नहीं है। लोगों की आवश्यकता की दृष्टि से चीज़ों को उपलब्ध कराना उसका कार्य है। चूँकि सब लोग जहाँ चीज़ें उत्पन्न होती हैं वहाँ नहीं पहुँच सकते हैं इसलिए चीज़ें जहाँ आवश्यक हैं वहाँ पहुँचाना उसका कार्य है। आज दृष्टि आवश्यकता पूर्ण करने की नहीं है।

चाहे भुखमरी बढ़ती जाये पर यदि मुनाफे पर सामान बेचकर व्यापारी अपना धन बढ़ा ले तो मानते हैं उसने विकास कर लिया! लाखों लोगों के सिर पर चाहे छप्पर न हो फिर भी एक-एक व्यक्ति चार-चार 'फ्लैट' रखकर साठ तल्ले का मकान बना ले तो कहते हैं कि देश की उन्नति हो रही है ! आवश्यकता को दृष्टि से हटाकर चाहे जितना बटोर लो, उसे उन्नति, विकास कहना बनता नहीं।

शूद्र के लिये भी उपदेश है 'सदा चरणतत्परः।' वह हमेशा देखे कि किसकी, कहाँ, कौन-सी सेवा आवश्यक है, उस सेवा को पूर्ण करे।

सारी दृष्टि इस प्रकार की थी कि हमें क्या पाना है यह नहीं वरन् हम समाज को क्या दे सकते हैं ? देने की भावना का उदात्त उदाहरण राजा रघु के जीवन में मिलता है। राजा रघु ने सर्वस्व दान कर दिया था। उनके पास केवल एक मिट्टी का सिकोरा बच गया था। उस समय एक ब्राह्मण आया पर उनकी स्थिति देखकर वापस जाने लगा। राजा ने पूछा तो वह कहने लगा, 'मैं आया तो था किसी मतलब से लेकिन आपकी स्थिति देखकर माँगे बगैर अन्यत्र जा रहा हूँ।' राजा ने उसकी आवश्यकता पूछी तो वह बोला 'मैंने गुरुजी से विद्याध्ययन कर कहा कि 'आप गुरुदक्षिणा लेवें, क्या ले आऊँ आपके लिए ?' उन्होंने कहा 'बेटा, तुम ब्राह्मण के लड़के हो, क्या ला सकोगे, तुमने सेवा की इतना ही काफी है।' मैंने कहा 'नहीं जी, कुछ तो ले लो।' बार-बार कहने से गुरुजी को गुस्सा आ गया, उन्होंने कहा 'चौदह विद्याएँ सीखी हैं तो चौदह करोड़ रत्न ले आओ।' मेरा मुँह छोटा-सा हो गया ! गुरुजी के हृदय में तुरन्त दया आ गई। कहने लगे 'रघु इस समय दान कर

रहे हैं, उनके पास चले जाओ। वे तुम्हें दे देंगे।' लेकिन आपकी स्थिति देखकर मैंने सोचा बात करना बेकार है।' रघु ने कहा 'आप दो चार दिन निवास करें। आप घबरायें नहीं। आपकी व्यवस्था हो जायेगी।' उनकी व्यवस्था करने के लिए रघु सोचने लगे कि अब क्या करें ? अभी-अभी इतने बड़े दान इत्यादि कर्म के लिए प्रजा से तो धन ले चुके थे। आज का युग तो था नहीं कि जब इच्छा तब कर और अधिभार लगा दो ! अन्त में उन्होंने निर्णय किया कि इन्द्र पर चढ़ाई करके वहाँ से धन लाकर ब्राह्मण को दे दिया जाये। सारी तैयारी हो गई। इन्द्र को पता लग गया। इन्द्र ने रात में ही वहाँ स्वर्ण-वृष्टि कर दी ! सबेरे उठे तो सर्वत्र सोना भरा हुआ था। रघु समझ गये। अग्निहोत्र करते हुए इन्द्र को विशेष आहुतियाँ दीं कि उनकी कृपा से यह हुआ है।

उस ब्रह्मचारी को बुलाया। कहा 'ये रत्न ले जा।' उसने उसमें से चौदह करोड़ ले लिये। धन तो बहुत आ गया था। वह चौदह करोड़ लेकर जाने लगा तो रघु ने कहा 'यह तो सब तुम्हारे निमित्त से आया है, सारा ले जाओ।' वह ब्राह्मण कहने लगा 'हमें चौदह करोड़ की ज़रूरत थी, हमने चौदह करोड़ ही कहा था, हम बेकार क्यों लेकर जाएँ ? ज़्यादा आया है तो तुम जानो, हमें जितना चाहिये उतना ही लेंगे।' यह है सनातन धर्म का *संघर्ष* जहाँ हर-एक कहता है 'तुम लो।' जहाँ सनातन धर्म नहीं है वहाँ सब कहते हैं 'मैं लूँ !' अन्त में जब कोई निपटारा नहीं हुआ तब ऋषियों से पूछा। उन्होंने कहा 'अब झगड़ा नहीं करो। यह तो चौदह करोड़ ले जाये। बाकी सब ज़मीन में गाड़ दो, आगे किसी के काम में आयेगा। राजा का भी कहना ठीक है कि 'ब्राह्मण के निमित्त से

आया है मैं क्षत्रिय क्यों रखूँ इस धन को।' और ब्राह्मण भी ज़रूरत से ज़्यादा न ले यह उचित ही है। अतः बाकी को ज़मीन में गाड़ दो, किसी के काम आयेगा।' यह दृष्टि बनती है सनातन धर्म की।

जब विचारपूर्वक जीवन व्यतीत होता है तब संतोष होता है। संतोष को ही तीसरा द्वारपाल कहा। जो हमारे पास है वह पर्याप्त है यह निश्चय संतोष है। यह होने पर ही जीव को साधुसमागम साधु पुरुषों का संग मिलता है जो चौथा द्वारपाल है। आज सब लोगों की शिकायत है 'कहीं हमें साधु पुरुष नहीं मिलते हैं। सब जगह चोर डकैत ही मिलते हैं, ठगने वाले ही मिलते हैं।' शम, विचार, संतोष हैं क्या तुम्हारे पास ? ये होंगे तभी साधु पुरुष मिलेंगे नहीं तो साधु पुरुष तुम्हें मिलने वाले नहीं हैं। क्योंकि जब तक तुम्हारे अन्दर योग्यता नहीं होगी तब तक न साधु पुरुष को तुम पहचान सकते हो न उससे लाभ उठा सकते हो। साधु समागम की विशेषता है कि उससे तुम्हारी पुरुषार्थ-शक्ति का विकास होता है। असाधु पुरुष हमेशा तुम्हारी पुरुषार्थता को दबायेंगे। कोई कहेगा सब कुछ कर्म के अधीन है, कोई कहेगा सब कुछ 'चाँस' के, यदृच्छा के अधीन है, कोई कहेगा नियति के अधीन है, कोई कहेगा प्रकृति के अधीन है, कोई कहेगा स्वभाव के अधीन है। दूसरी चीजों को कारण बतलायेंगे। साधु पुरुष वह है जो तुमसे कहेगा कि 'संसार में कुछ भी ऐसा नहीं है जो तुम अपने पुरुषार्थ से प्राप्त न कर सको।' संकल्प की शक्ति सबसे प्रबल शक्ति है।

वशिष्ठ जी ने पुरुषार्थ की विशेषता बतलाते हुए श्री राम

को सुनाया : एक तपस्वी बैठा हुआ समाधि का अभ्यास कर रहा था। समाधि के अभ्यास में उसके मन में कहीं से संकल्प उदय हो गया यज्ञादि करने का। वह ब्राह्मण बन गया। यज्ञादि करते हुए उसके मन में संकल्प आ गया कि 'मैं राजा बन जाऊँ' तो अगली बार राजा बन गया। राज्य करते हुए उसके मन में आया 'मैं चक्रवर्ती बन जाऊँ।' वह चक्रवर्ती भी बन गया। चक्रवर्ती बन करके उसके मन में आया कि 'मैं उत्तम स्त्रियों का भोग करूँ।' वह अप्सरा बन गया, देवांगना बन गया। उस योनि का भोग करते हुए उसके मन में आया कि 'संसार में फूल बड़ी अच्छी चीज़ है।' वह बेल बन गया । बेल के चारों तरफ भौंरा घूमता था तो उसने भौंरा बनने का संकल्प किया जिससे वह भौंरा बन गया। इसी प्रकार वशिष्ठ जी ने समझाया कि जिस-जिस संकल्प को तुम दृढ करते चले जाते हो वैसा ही वैसा बनते चले जाते हो। समग्र जीवन में कार्य क्या करती है ? संकल्प शक्ति। जिसको तुम दैव, प्रारब्ध, भाग्य, नियति कहते हो, वह भी आखिर क्या है ? तुम्हारा पहले का किया हुआ पुरुषार्थ ही तो है। पूर्व पुरुषार्थ और वर्तमान पुरुषार्थ दोनों मेढ़ों की तरह लड़ते हैं, जैसे दो मेढ़े लड़ते हैं, भैंसे लड़ते हैं; जो प्रबल होता है वह निर्बल को दबा देता है। इसी प्रकार यदि इस समय पुरुषार्थ प्रबल होगा तो पूर्व वाले को दबा लोगे। यदि उस समय का पुरुषार्थ प्रबल है और इस समय का प्रबल नहीं है तो वह इसके ऊपर हावी हो जाएगा।

साधु पुरुष तुमको इस पुरुषार्थ का भान करायेगा। परन्तु पुरुषार्थ का भान कब होवे ? जब पहले शम, विचार, सन्तोष पूर्वक तुम इस बात को समझ सको कि वह पुरुष क्या है ? जब

तक प्रकृति के अधीन रहते हुए शरीर, मन के अधीन रहते हुए तुम किसी भी चीज़ की अर्थना करोगे तब तक पुरुषार्थ नहीं कर पाओगे, वह तो प्रकृत्यर्थ होगा। इसलिए भगवान् गीता में कहते हैं कि जो प्रकृति के अधीन रहेगा उसे प्रकृति नियुक्त करेगी, अर्थात् वह पुरुषोपयोगी कार्य नहीं कर सकेगा। जब प्रकृति से अलग हो कर *पुरुष* बनोगे तभी पुरुषार्थ कर पाओगे। साधु पुरुष तुम्हें पुरुषार्थ का उपदेश देते हैं; जो पुरुष के लिये अर्थ है उसका वे उपदेश देते हैं। लोग समझते हैं कि विषय-भोगों के लिए पुरुषार्थ कर रहे हैं ! जबकि वे प्रयत्न कर रहे हैं प्रकृति के साथ, प्रकृति के लिए। इसलिए प्रकृति की अधीनता रहेगी, पुरुष की संपन्नता आ नहीं सकती है क्योंकि वह पुरुषार्थ बन ही नहीं रहा।

सनातन धर्म संदेश देता है कि बाहर की, प्रकृति की तरफ जाने वाली जो वृत्तियाँ हैं उनको हटा कर तुम्हें आत्माभिमुखीभूत होना है, अन्दर की तरफ जाना है। पुरुष तत्त्व का, परमात्मा का साक्षात्कार करना है। उसे करने के साधन शम, विचार, संतोष और साधुसमागम हैं। जब इनकी पूर्णता प्राप्त होती है तब वास्तविक समृद्धि मिलती है जिसके लिये प्रारंभ में व्रतपति परमेश्वर से प्रार्थना करना बताया था। इस वर्ष के अन्तिम दिन यही व्रत आप लोग लेवें कि जीवन के अन्दर परमात्मा की तरफ बढ़ने का प्रयत्न करेंगे। यह निश्चित समझें कि यदि आपने यह दृढ संकल्प किया तो परमात्मा आपको वह समृद्धि देगा, सफलता देगा। सफलता की तरफ आप चलें यही आशीर्वाद है।

परिशिष्ट—२

सनातन धर्म और मानसिक शांति

प्रवचन-१

शान्ति जीव को सदा अभीष्ट है। वर्तमान काल में सर्वत्र अशांति फैल रही है। प्रदूषण, शोर आदि से भौतिक अशांति, नेताओं की सिद्धान्तहीनता से राजनैतिक अशांति, वर्ग आदि के संघर्ष से सामाजिक अशान्ति इत्यादि अनेक स्तरों पर अशांति है। सभी तरह की शांति का नहीं वरन् अभी मानसिक शांति का विचार करेंगे। अशांति के अनेक कारण होते हैं, सभी अशांतियों को केवल मानसिक नहीं कह सकते ! रोग से देह में अशांति होती है जो रोग हटने से ही जायेगी, केवल मानस-धरातल पर उसे दूर नहीं कर सकते। मानसिक अशांति मिटने से राजनैतिक अशांति दूर हो जाये, समाज में शांति आ जाये आदि आशा नहीं कर सकते। जिस क्षेत्र में अशांति का जो मूल है उस क्षेत्र में उसी मूल की शांति कायम करनी पड़ेगी। दैहिक अशांति के लिये औषधि चाहिये, प्राणों की अशांति के लिये अन्न-जल चाहिये, जीवन-प्रवाह की अशांति मिटाने के लिये सभी आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिये; इसी प्रकार मानसिक अशांति दूर करने के लिये इसका मूल पता लगाना होगा। शांति-अशांति का अनुभव मन ही करेगा अतः सभी अशांतियों का मनसे सम्बन्ध है किन्तु 'मानसिक अशान्ति' से हमारा मतलब उस अशांति से है जिसका स्रोत, मूल, जिसकी जड़

मन है, अन्य कुछ नहीं। शारीरिक अशांतिका अनुभव भले ही मन करेगा लेकिन उसका स्रोत मन नहीं वरन् देह में निहित है। देह से अशांतिहेतु हट जाने पर मन में वह अशांति नहीं रहेगी। अतः मानसिक अशांति का तात्पर्य *मन में होने वाली* अशांति नहीं, क्योंकि सभी अशांतियाँ मन ही में होती हैं, वरन् उस अशांति से है जिसका स्रोत मन है, जो अशांति *मन के कारण* है, जिस अशांति का कारण बाह्य जगत् में और कुछ नहीं, मन ही उसको उत्पन्न करने वाला है।

मन की अशांति का मूलकारण है इच्छा। मन इच्छा करता है तभी अशांत होता है। भूख-प्यास भी इच्छा हैं परन्तु वे प्राण-मूलक इच्छा हैं, उनका स्रोत मन नहीं। परन्तु जब हम *रसगुल्ला* ही खाना चाहते हैं तब वह प्राण की नहीं मनकी इच्छा है। भूख-प्यास की निवृत्ति तो बाजरे की रोटी से, सूखी रोटी से, वैसी ही हो जायेगी जैसी रसगुल्लों से होगी। अतः प्राण की जो भूख है, प्राण की जो अशांति है, उसकी निवृत्ति तो जिस किसी चीज़ को खाने से हो जायेगी। परन्तु 'मुझे रसगुल्ला ही खाने की इच्छा है, रसगुल्ला ही खाऊँगा' इस इच्छा का स्रोत केवल मन है। अतः मनोमूलक इच्छाओं को लेकर जो अशांति होती है उसी पर विचार करेंगे। मनोमूलक अशांति बाकी सब अशांतियों की अपेक्षा तीव्र भी है, बाकी सब अशांतियों की अपेक्षा अत्यन्त शीघ्र उत्पन्न भी होती है और इसको शांत करना उतना ही कठिन भी होता है।

अर्जुन का दृष्टान्त लीजिए। अर्जुन बड़ा वीर व्यक्ति था। उसको किसी प्रकार का भय महाभारत के युद्ध में हुआ हो यह

संभव नहीं। महाभारत युद्ध के कुछ दिन पहले ही भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादियों के साथ दुर्योधन ने विराट् नगर में गौवों का अपहरण करने के लिए आक्रमण किया था। गौवों को चुरा कर ले जाने की योजना थी। कल्पना नहीं कर सकते कि भीष्म जैसा व्यक्ति, चोरी करे वह भी गायों की ! इसीलिए महाभारतकार कहते हैं कि संग-दोष मनुष्य को कितना गिरा देता है ! 'दुर्योधनप्रसंगेन भीष्मो गोहरणे गतः।' गौ की चोरी शास्त्र में बहुत बुरी मानी गई, परन्तु दुर्योधन की संगत का नतीजा हुआ कि भीष्म जैसा विवेकी, विचारशील भी उस कुकर्म में शामिल हो गया। भीष्म ने विवाह नहीं किया था तो संतति होने का प्रश्न नहीं, किसी भी प्रकार की अन्य मज़बूरी भीष्म की नहीं थी जिसके कारण वे दबें। परन्तु इतने पर भी दुर्योधन का साथ करने का नतीजा यह हुआ कि वे गाय चुराने चले गये ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, इत्यादि सारे महाभारत के जो प्रबल योद्धा थे, सब विराट् नगर गये थे और अर्जुन ने अकेले ही उन सबको युद्ध में परास्त किया था। युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव भी साथ में नहीं थे। अकेले ही अर्जुन ने सम्मोहनास्त्र के द्वारा दुर्योधनादि को मूर्छित कर उनके कपड़े तक ले लिये थे ! किसी भी महावीर के कपड़े ले कर आ जाया जाय तो उसका बड़ा भारी अपमान माना जाता है। यह अर्जुन अभी कुछ दिन पूर्व कर चुके थे। अतः उनके मन में कहीं भय या कहीं संदेह होवे, यह बात नहीं। इतना होने पर भी जब महाभारत युद्ध के अन्दर उन्होंने सैन्यों का निरीक्षण किया तब मन की अशांति स्फुट हो गई, प्रकट हो गई। कहाँ तो बड़े भारी युद्ध के लिये तैयार हो कर आये थे, उन्होंने स्वयं शंख बजाया था युद्ध का, और कहाँ

उस युद्ध-भूमि के अन्दर जब अपने पूज्य जनों को देखा तब मन में ऐसा संघर्ष उत्पन्न हो गया कि बिना लड़े माँग-खाकर जीवन बिताने की सोचने लगे। अन्तरात्मा कहने लगी 'तुम किसलिए लड़ रहे हो, क्या प्रयोजन है ?' बाह्य कारण वहाँ कुछ नहीं था भय का परन्तु जो अन्तरात्मा का अहम् के साथ संघर्ष होता है वह सबसे प्रबल संघर्ष होता है। मनुष्य की अन्तरात्मा जब उस कार्य को ग़लत कहती है जिसे अहम् करना चाहता है तब अहम् उसे सहन नहीं कर सकता। बाकी सब लोगों की समालोचना को मनुष्य बड़ी सरलता से सह सकता है, परन्तु जब अपनी अन्तरात्मा धिक्कारने लगती है तब कभी भी शांति नहीं रहती है।

अर्जुन की अन्तरात्मा ने प्रश्न किया : तुम भीष्म, द्रोण आदि को मारने जा रहे हो। यह तुम्हारे पूज्य हैं, इनका हनन करना अपनी अन्तरात्मा का हनन करना है। 'जिन्होंने मुझे गोद में बैठा कर खिलाया, जिन्होंने मुझे हाथ से पकड़ कर धनुष चलाना सिखाया, उन्हें ही मुझे मारने में प्रवृत्त होना पड़ेगा'—जैसे ही यह मानसिक अशांति आई, अन्तःसंघर्ष अन्तरात्मा के सामने प्रकट हो गया, वैसे ही सारी साहस की प्रणाली, उत्साह की प्रणाली बदल गई। उस परिस्थिति में अर्जुन का सामान्य अनुभव नहीं था; वे कहते हैं 'मेरा शरीर, अंग प्रत्यंग सर्वथा अवसन्न हो रहे हैं। कुछ भी करने में असमर्थ हो रहा हूँ।' मानसिक अशांति का पूर्णरूप यहाँ गीता के अन्दर भगवान् वेदव्यास ने बतलाया।

जब मानसिक अशांति पूर्णरूप से होती है तब मनुष्य के शरीर में कुछ भी करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती है, देह सर्वथा शिथिल हो जाता है। मुँह सूखने लगता है। मनुष्य मानसिक अशांति के

समय बार-बार पानी पीयेगा। इसका कुछ भौतिक कारण भी है। मनुष्य को जिस समय अत्यन्त तीव्र वेदना होती है, मन के अन्दर मानसिक अशांति उत्पन्न होती है, तब शरीर की कुछ अन्तर्ग्रन्थियों से कुछ प्रस्राव होने लगते हैं जिनसे मुँह सूखता है। सामान्य व्यक्ति में वे स्राव यदि सुई से प्रविष्ट कर दें तो भी मुँह सूखना आदि प्रतिक्रिया होती है। जिस समय में चिन्ताग्रस्तता आती है उस समय में उस प्रकार के स्राव शरीर में बढ़ने लग जाते हैं अतः मुख सूखने लग जाता है, शरीर कम्पायमान हो जाता है, काँपने लगता है। जब अत्यन्त तीव्र कोई शोक की घटना हो जाती है तब पानी का गिलास भी हाथ में लेते नहीं बनता, हाथ हिलने लग जाता है, काँपने लग जाता है। सारे शरीर के रोयें खड़े हो जाते हैं। ये सारी प्रतिक्रियाएँ उस महावीर अर्जुन में हो रही थीं जिसे किसी प्रकार का भय नहीं था ! ये सब किसी भय की परिस्थिति के अन्दर होना तो सहज और स्वाभाविक है परन्तु भय का बाह्य कारण उपस्थित न होने पर भी यह हुआ क्योंकि मानसिक अशांति की पूर्ण तीव्रता थी।

किसी भी कार्य को करना किसी-न-किसी औजार से ही होगा, युद्ध आयुध से ही होगा। जब किसी कार्य को करने की इच्छा नहीं रह जायेगी तब सहज स्वाभाविक रूप से उन उपकरणों से भी मनुष्य दूर हो जाता है। अतः गाण्डीव भी अर्जुन के हाथ से छूटने लगा। ऐसा लग रहा था मानों सारा शरीर किसी गरम तवे पर रख दिया गया हो, जलन हो रही थी सारे शरीर में। केवल आन्तरिक अनुभव ही उसको ऐसा हो रहा हो ऐसा नहीं, बाहर से भी दीख रहा था, वह खड़े रहने में भी समर्थ नहीं था। ऐसा

लग रहा था मानों सिर में बड़े ज़ोर से चक्कर आ रहा हो।

जब इस प्रकार की स्थिति होती है तब मनुष्य को संसार की सब चीज़े भी उल्टी दीखने लगती हैं। प्रत्येक कार्य के होने के समय कुछ 'शकुन' हुआ करते हैं उनको 'निमित्त' कहते हैं। अर्जुन को ऐसा लगा कि विपरीत निमित्त हो रहे हैं, विपरीत शकुन हो रहे हैं। शकुन तो वहाँ विपरीत हो ही रहे थे; इतना बड़ा भयंकर युद्ध और इतनी बड़ी मारकाट होने वाली थी तो शकुन खराब होने ही थे परन्तु शकुन खराब हो रहे थे कौरव पक्ष के लिए। अर्जुन को प्रतीत हुआ 'हमारे ही लिए ये शकुन खराब हो रहे हैं।' जब मनुष्य अशांति की तीव्रता में पहुँचता है तब अपनी दुरवस्था ही उसे आसन्न लगती है, अत्यधिक हानि होने वाली है ऐसा प्रतीत होता है। अतः अपने से असंबद्ध शकुनों को भी सोचता है 'मानो ये चीज़ें मेरे ही लिए कोई बुराई पैदा कर रही हैं।' अन्त में अर्जुन कह देता है 'इन लोगों को मार कर मैं कोई अच्छाई नहीं देखता हूँ, कोई लाभ की बात नहीं देखता हूँ।'

इस प्रकार गीता के प्रारंभ में मानसिक अशांति का सुस्पष्ट वर्णन है। मानसिक विज्ञान का अत्यन्त कुशल ज्ञाता ही इतना सुन्दर वर्णन कर सकता है कि क्या-क्या स्थितियाँ होती हैं मानसिक अशांति की तीव्रता जब होती है। इतनी तीव्रता का अनुभव प्रायः हम लोग नहीं करते परन्तु यदि ध्यान से देखोगे तो थोड़ा बहुत ऐसा प्रभाव आता ही है। जब कभी मनुष्य का मन अशांत होता है तब थोड़ा बहुत ऐसा प्रभाव उसके जीवन में देखा ही जा सकता है। इन सबका मूल है किसी-न-किसी चीज़ की चिन्ता, असुरक्षा की भावना, अपने आपको हीन समझना

अथवा समझना कि 'मेरे हाथ से कोई बड़ा पाप होने जा रहा है'। ये सब चीज़ें मनुष्य के अन्दर अन्तर्द्वन्द्व पैदा करती हैं। जब अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है अर्थात् अन्तरात्मा और अहम् का जब संघर्ष होता है तब मनुष्य की यह स्थिति बनने लगती है।

चिन्ता का भी अर्थ समझ लेना : जहाँ बाह्य कोई कारण न होवे उस चिन्ता की बात कर रहे हैं। मान लो तुम किसी ऐसी जगह हो जहाँ भूकंप आया करते हैं। अकस्मात् तुम्हारी दीवारें हिलने लग जायें। तब मन में चिन्ता होती है कि 'कैसे इस मकान से जल्दी-से-जल्दी बाहर निकलें।' यहाँ चिन्ता का बाह्य कारण है। इसका *स्रोत* मन नहीं है। परन्तु जो अर्जुन के दृष्टान्त से बतला रहे हैं या जो हमारे जीवन में भी घटता है, वह ऐसी चिंता है जिसके लिये कोई उचित कारण प्रमाणगोचर नहीं है। बैठे हुए कोई पुस्तक पढ़ रहे हो। अकस्मात् मन में अकारण चिन्ता आ जाती है—'शाम के छह बज गये, बेटा अभी घर नहीं आया, क्या बात है ?' दिल्ली शहर है। बस में देर हो सकती है। रोज़ छह बजे आता है, आज साढ़े छह बजे आ सकता है। परेशानी का कोई कारण नहीं है। परन्तु चिन्ता सिर के अन्दर घूमने लग जाती है अर्थात् काल्पनिक परिस्थितियों से मन जूझने लगता है, बिना किसी जानकारी का आधार लिये उधेड़-बुन में फँसता जाता है, उत्तरोत्तर उलझन में पड़कर भयभीत हो जाता है।

इसी प्रकार से असुरक्षा की भावना अर्थात् हमेशा सोचते रहना कि कोई-न-कोई बुराई ही घट जायेगी, यह भी मन को अशांत करती है। योगवाशिष्ठ के अन्दर वशिष्ठ जी ने एक बात बार-बार कही कि जैसा तुम तीव्रता से सोचोगे वैसा ही घटित हो जाता

है क्योंकि तुम्हारे अन्दर इतनी बड़ी आत्मशक्ति बैठी हुई है कि उससे जो तुम इच्छा करोगे वह पूरी हो जायेगी। हम लोगों की बहुत कुछ स्थिति उस व्यक्ति की तरह है जिसकी कहानी यों है :

एक व्यक्ति जंगल में जा रहा था। जाते हुए रात हो गई। एक वृक्ष के नीचे वह लेट गया। लेटते हुए वह सोच रहा था कि 'अगर आज घर पहुँच गया होता, बढ़िया बिस्तर पर सोता तो सारी थकावट मिट जाती परन्तु कुछ बिलम्ब हो गया इसलिये यहीं सोना पड़ जायेगा।' जैसे ही उसने यह सोचा वैसे ही देखा कि वहीं पास में एक बहुत बढ़िया बिछौना बिछा हुआ है, खाट के ऊपर ! उस पर फेन-सी चद्दर बिछी हुई है, कम्बल रखा हुआ है। उसे आश्चर्य हुआ। उसने सोचा 'यह तो बड़ा अच्छा हो गया।' उसके ऊपर जाकर लेट गया। अब सोचने लगा 'बड़ी ज़ोर से भूख लगी हुई है। अगर घर पहुँचा होता तो कितना अच्छा खाने को मिलता, अच्छी तरह से भोजन करता।' तब तक उसको बढ़िया दाल के हलवेकी सुगन्धि आने लगी ! पूड़ी की सुगन्धि आने लगी। घूमकर देखा तो सुन्दर चाँदी के थाल में बहुत तरह की मिठाइयाँ और खाद्य सामग्री सारी उपस्थिति हो गईं ! बड़ा प्रसन्न हुआ कि 'देखो, यह कैसा हमारा अच्छा भाग्य है कि हमें भोजन मिल गया।' अच्छी तरह से उसने भोजन किया, ठंडा जल पीया, प्रसन्न होकर लेट गया। चारों तरफ अंधकार ही था, घोर जंगल था ही। सोचने लगा 'इस घोर जंगल में मैं सो तो रहा हूँ और मुझे अब नींद भी आ रही है खाने के बाद, लेकिन अगर कोई शेर आ कर मुझे खा जायेगा तो क्या होगा ?' तुरन्त वहाँ एक शेर आ गया और

उसे खा गया !

कारण क्या था ? जिस वृक्ष के नीचे वह लेटा हुआ था वह कल्पवृक्ष था। इसलिए उसके नीचे जो इच्छा की जाती थी वह पूर्ण होती जाती थी। ऐसे ही हमारे हृदय में स्वयं परब्रह्म परमात्मा बैठा हुआ है। वह सकल कामनाओं को पूर्ण करने के लिए वहाँ हमेशा बैठा हुआ है। जीवन में हम अनेक इच्छाएँ अच्छी करते हैं। उनको पूर्ण होते हुए देखते हैं। घोर जंगल के अन्दर बिछौना कहाँ से आ सकता है—उसने नहीं सोचा। भोजन कहाँ से आ सकता है—उसने नहीं सोचा। अगर वह सोचता तो समझ लेता कि यह तो इस वृक्ष की कृपा है। तब अंतिम कल्पना शायद न करता। ऐसे ही हम जीवन के अनेक स्थलों पर पहुँचते हैं। हमारी तीव्र प्रार्थना पूर्ण हो जाती है। ऐसे अनेक अनुभव करते हैं। छोटी-छोटी चीज़ों के अन्दर हमें अचानक सफलता मिलती है। कहीं जाना है। दस दिन पहले से टिकट मिला नहीं है, उस दिन जाना ज़रूरी है। हम भीड़ में घुस कर जाने के लिए तैयार हैं। स्टेशन पहुँचते हैं और हमको एक सीट मिल जाती है ! आगे हम विचार नहीं करते कि जो चीज़ संभव नहीं दीख रही थी वह संभव कैसे हो गई ? इसी प्रकार जीवन के अन्दर अनेक स्थल आते हैं। अपना बच्चा बीमार है। दवाई लाभ नहीं कर रही है। हृदय से तीव्र प्रार्थना होती है, बच्चा ठीक हो जाता है। आगे विचार नहीं करते यह क्यों ठीक हो गया ? कैसे ठीक हो गया ? जीवन के अनेक मोड़ों के ऊपर हमको बार-बार ऐसा अनुभव होता है। अप्रत्याशित रूप से, जिस रूप से हम सोच नहीं सकते थे उस रूप से हमारी कामना पूर्ण हो जाती है परन्तु हम सोचते नहीं कि

क्यों पूर्ण हो जाती है। हम उस परमेश्वर के पास बैठे हुए हैं जो कल्पवृक्षों का भी कल्पवृक्ष है। इसलिए जिस किसी चीज़ को हम तीव्र प्रार्थना की दृष्टि से परमेश्वर से चाहते हैं वह प्राप्त हो जाती है। परमेश्वर इस बात की अपेक्षा नहीं करता कि तुम उसे 'परमेश्वर' कह करके बुलाओ। इसलिए जो परमेश्वर को नहीं भी मानता वह भी जब तीव्र इच्छा करता है कि 'ऐसा हो जाय' तब वैसा भी हो जाता है। परमेश्वर तो नास्तिक, आस्तिक सबके हृदय में एकरूप से बैठा हुआ है, सबके लिए कल्पवृक्ष है।

इस बात का चूँकि हमने विचार नहीं किया, अपने हृदयस्थ परमेश्वर को हमने नहीं देखा, इसलिये हम समझते हैं कि किसी बाह्य कारण से ही हमारा काम पूरा हो गया होगा। अच्छा 'टी. टी.आई.' मिल गया होगा, अच्छा डॉक्टर आ गया उसकी दवाई लग गई होगी। हमेशा हम कारण को बाहर की तरफ देखते हैं और इसलिए हमारे मन में बार-बार भयत्रस्तता आती रहती है, असुरक्षा की भावना आती रहती है। जैसे उस व्यक्ति के मन में असुरक्षा की भावना आई, कि 'कोई मुझे खा न जाये, शेर मुझे खा न जाये' तो वह भी वैसे ही पूर्ण हो गई जैसे उसकी दूसरी इच्छाएँ पूर्ण हुई थीं; वैसे ही अनेक बार हम अपनी असुरक्षा-भावना के द्वारा ही अपनी असुरक्षा को उत्पन्न कर लेते हैं ! इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि हमेशा सावधान रहना चाहिए, किसी भी इच्छा को, बुरी इच्छा को अपने अन्दर आने नहीं देना चाहिए। लेकिन असुरक्षा की भावना जिनके जीवन में एक क्रम बन जाता है वे हमेशा ही अशुभ सोचते रहते हैं। लाभ हो रहा है, उस समय सोचते हैं 'कहीं ऐसा न हो कि नुकसान हो जाये।' एक बार अपने

आश्रम में कुछ महात्मा बैठकर बड़ी हँसी कर रहे थे, हँस रहे थे बड़े ज़ोरों से। एक वृद्ध महात्मा उनके पास पहुँचे और कहने लगे 'अरे ! थोड़ा-थोड़ा हँसना चाहिए। ज़्यादा हँसोगे तो फिर तुम्हें रोना पड़ेगा।' यह हृदय में असुरक्षा की भावना है। कोई अच्छा काम हो तो पंजाब वाले कहते हैं 'नज़र न लग जाये।' कुछ-न-कुछ उसमें बुराई पैदा कर दो नहीं तो नज़र लग जायेगी ! बढ़िया मकान बने तो उसके ऊपर हंडी काली करके टाँग देनी चाहिए नहीं तो नज़र लग जायेगी ! यह इसीलिये है कि अन्दर से असुरक्षा की भावना है कि कोई-न-कोई असुरक्षा का कार्य हो जायेगा।

मनुष्य की अशांति का तीसरा बहुत बड़ा कारण होता है हीन-भावना अर्थात् किसी भी अन्य के पास कोई भी अच्छा गुण देख कर 'मेरे अन्दर यह क्यों नहीं है' यह भाव उठना। इससे मन में अशांति आ जाती है। दो व्यक्ति एक ही पद पर हैं। एक को पाँच सौ की तरक्की मिल जाये, दूसरे को तीन सौ की तरक्की मिल जाये तो तीन सौ की तरक्की पाने वाले को प्रसन्नता नहीं होती है कि 'मुझे तीन सौ मिल गये।' उसे इस बात का दुःख होता रहता है कि 'मुझे पाँच सौ क्यों नहीं मिल गये !' इसी प्रकार व्यापार में यदि पड़ौसी को फायदा हो गया तो हमारे मन में दुःख बना रहता है कि 'यह फायदा मुझे क्यों नहीं हो गया।' फायदा हो रहा है, कोई नुकसान नहीं हो रहा है, पर 'वह' सौदा नहीं मिला, दूसरे को मिल गया यह दुःखहेतु बन रहा है। दूसरे को अपने से बेहतर देखकर अपने अन्दर हीनता की भावना आती है, कि 'यह विशेषता मेरे अन्दर क्यों नहीं है' जो एक बहुत बड़ी अशांति का कारण होता है।

अशांति का चौथा कारण है कि मनुष्य पाप तो कर लेता है परन्तु अन्तरात्मा उसको धिक्कारता रहता है। ग़लत काम करके कभी शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती। ग़लत काम करके तुम धन प्राप्त कर सकते हो, प्रमाणपत्र प्राप्त कर सकते हो परन्तु कभी शांति की प्राप्ति नहीं कर सकते क्योंकि अन्तरात्मा बार-बार तुमको धिक्कारता रहेगा कि तुमने ग़लत काम किया है। चाहे जितना उसके लिये तुम प्रायश्चित्त करने का प्रयत्न करो लेकिन अन्दर से तो पता है कि जान-बूझकर किया है। अगर हमने अनजाने में कोई ग़लती की है तो उसका प्रायश्चित्त हो सकता है परन्तु जान-बूझकर की ग़लती का प्रायश्चित्त कहाँ हो सकता है ! चाहे हम बाहर से प्रायश्चित्त करने का प्रयत्न कर भी लेवें लेकिन अन्तरात्मा हमें क्षमा नहीं करता है। अन्तरात्मा से अहम् का हमेशा इस विषय में विरोध चलता रहता है। अहम् और अन्तरात्मा के संघर्ष व्यक्ति बाहर आरोपित करने लग जाता है : पाप करता तो है अहम् की विषयंभोगों की इच्छा से परन्तु उसका रूप देता है कि 'समाज ने हमें बाध्य किया, घरवालों ने हमें बाध्य किया, किसी-न-किसी ने हमें बाध्य किया।' संघर्ष का कारण व्यक्ति बाहर *देखने* लगता है क्योंकि वह यह मानना भी नहीं चाहता कि उसका कारण स्वयं के अन्दर है। यह अन्तरात्मा की स्थिति मनुष्य के मन में बहुत ज़्यादा अशांति पैदा कर देती है। ऐसे समझ लो : किसी बहुत बड़े आदमी ने आपको भोजन करने के लिए बुलाया। आप उस भोज में बड़ी सावधानी से जाते हैं क्योंकि चाहते हैं कि वहाँ लोगों को प्रभावित करें कि आप सभ्य पुरुष हैं, सब व्यवहारों को जानने वाले हैं। नतीजा होता है कि

चाहे उस भोज में कितनी ही अच्छी चीज़ें बन गई हों लेकिन आप स्वाद नहीं ले पाते क्योंकि आपके मन में हमेशा तनाव बना रहता है कि 'मुझसे कोई ग़लती न हो जाए।'

ग़लती अच्छे-अच्छों से हो जाती है ! अभी कहीं पढ़ रहे थे : वर्तमान में इंग्लैंड की रानी ने किसी अन्य देश के नेता को भोज पर बुलाया था। विलायत में भोजन समाप्त हो जाने पर सुगंधित पानी कटोरे में देते हैं अंगुलियाँ धोने के लिये, हाथ तो वे धोते नहीं ! जो दूसरे देश से आये हुए व्यक्ति थे उन्होंने सोचा वह भी कोई पेय वस्तु होगी, अतः पी गये ! रानी ने इसे देख लिया। उसने सोचा 'अब अगर हम लोगों ने इसमें अंगुलियाँ धो लीं तो ये दुःखी हो जायेंगे' अतः अपने सब घर वालों को इशारा किया, खुद भी उसे पी लिया और सब घरवालों ने पी लिया ताकि आये अतिथि के मन में कोई दुःख न हो। सभ्य व्यक्ति इस प्रकार ध्यान रखते हैं। परन्तु अधिकतर लोग ऐसे नहीं होते बल्कि तुमने ग़लती की तो तुरन्त दिखाना चाहते हैं कि 'तुमने यह ग़लती की।' छिद्रान्वेषण करना, किसी की ग़लती देखना हम लोगों को बड़ा प्रिय लगता है ! अगर सामने वाला हमसे बड़ा है तो हम उसके संमुख नहीं कहेंगे, जब चला जायेगा तब पीछे से कहेंगे। अगर बराबरी वाला है तो हँसी करके कहेंगे और अगर हमसे किसी कारण से नीचा है तब सबके सामने ही उसे ज़लील करेंगे—'अरे ! तुमको तो इतना भी सहूर नहीं है।'

जिस प्रकार उस भोज के अन्दर तनाव बना रहता है क्योंकि हम जिस वातावरण में गये हैं उस वातावरण में रात-दिन रहने के हम आदि तो हैं नहीं, नवीन जगह गये हैं इसलिए हमें इतना

असुरक्षा का भाव, चिन्ता का भाव, अशांति का भाव रहता है, ठीक इसी प्रकार हम रात-दिन राग द्वेषों के अन्दर पड़े रहते हैं अतः जब अन्तरात्मा के सामने आते हैं तब हम चाहते हैं कि हमारा अन्तरात्मा हमें धिक्कारे नहीं, परन्तु चूँकि हमने अपने को उसके अनुरूप बनाया नहीं है, ग़लत आदतें डाल रखी हैं, इसलिए जब कभी अन्तरात्मा के सामने पड़ते हैं तब हमें तनाव हो जाता है, हमारी अशांति बढ़ जाती है। राग-द्वेषादि की जिस फूहड़ता को हम छिपाना चाहते हैं वह अन्तरात्मा के सामने प्रकट हो ही जाती है जिससे आगे तनाव और अशांति बढ़ जाते हैं। पाप करने की भावना मनुष्य के अन्दर हमेशा अशांति को उत्पन्न करेगी क्योंकि अन्तरात्मा के सामने सबको हमेशा जाना ही पड़ेगा। शास्त्रकार इसीलिए बार-बार इस बात पर ज़ोर देते है कि पुण्य करना तुम्हारा *स्वभाव* हो जाना चाहिए। पुण्य प्रयत्नपूर्वक करने वाली स्थिति नहीं रहनी चाहिये। पुण्य करना जब तुम्हारा स्वभाव हो जायेगा, किसी भी परिस्थिति में पाप करने के लिए तो तुम्हें विचार करना पड़े और पुण्य करना तुम्हारा स्वभाव हो जाये, तभी अशांति का कारण दूर हो सकता है अन्यथा नहीं।

वर्तमान काल में एक कारण और आ गया है हमारी चिन्ताओं का : जिस समाज के अन्दर जिस देश के अन्दर मूल्य स्थिर होते हैं, जीवन की अर्हाएँ स्थिर होती हैं, सारा समाज उचित और अनुचित समझता है वहाँ व्यवहार करना सरल होता है। कोई भी समाज ऐसा नहीं होता जहाँ *अधिकतर* व्यक्ति *हमेशा* उचित कार्य ही करें। परन्तु संस्कृत समाज में जो अनुचित करता है वह भी इस बात को जानता है कि 'मैं अनुचित कर रहा हूँ।'

दुर्योधन से जब पूछा कि अनीति क्यों करते हो तब दुर्योधन ने यह नहीं कहा कि 'मैं जो कर रहा हूँ वह *ठीक* है' बल्कि कहा 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।' 'मैं जानता हूँ क्या उचित है परन्तु करना नहीं चाहता, प्रवृत्ति नहीं होती । क्या अधर्म है इसे मैं जानता हूँ लेकिन उससे मैं दूर नहीं रहता, उसे मैं छोड़ता नहीं, छोड़ने की मुझे इच्छा नहीं होती ।' अतः दुर्योधन को भी पता था—धर्म क्या है अधर्म क्या है। आज हम लोगों ने ऐसा समाज उत्पन्न कर दिया है जिसमें अधिकतर लोगों को इस बात का *निश्चय* ही नहीं है कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है ! इस निश्चय की कमी के कारण भी हमारे मन में अनेक अशांतियाँ आती हैं। अतः हमने मान लिया है कि जैसे गणित में न्यूनतम साधारण विभाजक (lowest common denominator) पता लगा लेते हैं ऐसे धर्म और अधर्म का निर्णय हो जायेगा ! हम सोचते हैं कि संसार के जितने मत, मज़हब हैं उन सबको सामने रख कर उन सब में जो सामान्य है उसे धर्म मान लिया जाये। धर्म का निर्णय ऐसे नहीं हुआ करता है। प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक विचार पद्धति, प्रत्येक सामाजिक प्रक्रिया, प्रत्येक राष्ट्र की भूमिकाएँ इन सबको लेकर धर्म का निर्णय होता है। धर्म ऐसी चीज़ नहीं है कि एक टुकड़ा यहाँ से काटो, एक टुकड़ा वहाँ से काटो और जोड़ दो तो धर्म का निर्माण हो जायेगा !

अकबर ने ऐसा ही करने का प्रयत्न किया था जैसा अब हम करने का प्रयत्न कर रहे हैं। उसने 'दीन-ए-इलाही' चलाया। सब धर्मों की *अच्छी* बातों को इकट्ठा करने का उसका प्रयास था। महाराजा मान सिंह से उसने कहा 'मैंने बड़ा बढ़िया धर्म चलाया

है, इसे तुम मान लो।' मान सिंह राजा तो थे ही, बुद्धिमान् भी थे। उन्होंने कहा 'मुस्लिम धर्म को मैं समझता हूँ और उसके प्रति भी मेरा आदर है, हिन्दू मैं हूँ ही। परन्तु यह जो आपका 'दीन-ए-इलाही' है, यह मेरी समझ में नहीं आता है। आज तक किसी भी धर्मप्रणेता ने इस प्रकार बैठ कर छँटाई नहीं की। धर्म आन्तरिक अनुभव की चीज़ है, कोई बैठ कर निर्णय करने की नहीं है, जोड़-घटाव से धर्म नहीं उत्पन्न हुआ करता। धर्म का काम आप धर्म वालों पर ही छोड़ें। आप राजा हैं, राज्य करें, वहाँ जोड़-घटाव करते रहें। ऐसा धर्म नहीं चल सकता।' अकबर राजा था तो थोड़े दिन तक वह धर्म चल भी गया पर जैसे ही अकबर का राज्य ख़त्म हुआ वह भी ख़त्म हो गया। धर्म एक अत्यन्त संश्लिष्ट, संग्रथित विचारधारा हुआ करती है।

आज हम जीवन के अन्दर चूँकि समाज रचना के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करते इसलिए एक ऐसी पीढ़ी हमारे सामने आ रही है जिसको निर्णीत नहीं पता है कि 'यह पाप है और यह पुण्य है' और उस ज्ञान के अभाव में उसके अन्दर हमेशा अशांति बनी रहती है। यह भी अशांति का बहुत बड़ा कारण है। अन्तरात्मा एक तरह से वे संस्कार हैं जो वंशपरंपरा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सीखे जाते रहे हैं। वंश-परम्परा से धर्म का प्रवाह चलता है। अर्जुन ने यह नहीं कहा कि युद्ध हो जायेगा तो ब्राह्मण नष्ट हो जायेंगे, कोई वेदपाठ करने वाला नहीं रहेगा, धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। यह अर्जुन की समस्या नहीं थी। ब्राह्मण तो अपने धर्म में लगे ही हुए थे। उन्हें युद्ध में नहीं मारा जा रहा था। वह जिस धर्म के नाश से चिंतित था वह है कुलधर्म। परम्परा से जो

विश्वास आता है वही हमारे अन्दर दृढ अन्तरात्मा का रूप धारण करता है। ऊपर से जो थोपा जाता है वह कभी भी दृढ अनुभूति का विषय नहीं बन पाता है। यही मूल कारण है कि सनातन धर्म ने कभी भी धर्मान्तरण को ठीक नहीं माना। उसकी दृढ निष्ठा है कि परमेश्वर ने जिसे जिस पर्यावरण के अन्दर, जिस जगह उत्पन्न किया है, उसके तदनुकूल संस्कार थे इसीलिए उसको ऐसी पितृ-परम्परा में उत्पन्न किया है। चूँकि परमात्मा ने वहाँ उत्पन्न किया है इसलिए उसी मार्ग से चले, वही उसके लिए श्रेष्ठ है। अर्जुन ने कुल-धर्मों को शाश्वत कहा। आज-कल कई बार लोग कह देते हैं 'जैसे हमारे बाप-दादों ने कभी धर्म चलाया वैसे अब हम दूसरी पद्धति चला देंगे।' किन्तु अर्जुन कहता है कि ये पद्धतियाँ चला नहीं करती हैं। ये *नित्य* हैं, परिवर्तन करोगे तो गड़बड़ियाँ आ जायेंगी। वर्तमान काल की अशांति का यह भी एक बड़ा कारण है कि लोगों को अपने कुलधर्म का ज्ञान नहीं है। वंश-परंपरा के द्वारा हमारे अन्दर अन्तरात्मा अनुप्राणित होता है, हमें आदेश देता है, बतलाता है क्या उचित है क्या अनुचित है। हमारे अन्दर औचित्य और अनौचित्य गड़बड़ा गया है। हम किसी विचार, क्रिया, संस्था आदि के प्रति दृढ निश्चय नहीं रखते कि यह ठीक ही है या ग़लत ही है अतः हर व्यवहार में सशंक रहते हैं कि 'कहीं यह ग़लत तो नहीं।' यह सशंकता भी अशांति का एक बहुत बड़ा कारण हो गया है।

अपने अन्दर देखने के लिए, अपनी इस अन्तरात्मा को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को जितना आन्तरिक अध्ययन करना चाहिए उसकी तरफ वर्तमान काल में प्रवृत्ति नहीं है।

इसलिए अशांति के कारण को अन्दर न ढूँढकर हमेशा बाहर ही ढूँढना चाहता है। भीतरी कारण बाहर तो मिलेगा नहीं अतः कारण पता न लगने पर उपचार के अभाव में अशांति बनी ही रहेगी। अशांति का केन्द्र, अशांति का कारण अपना हृदय है, उसके अंदर प्रवेश करके जीव देखना नहीं चाहता, उसका सामना करना नहीं चाहता, बाहर समस्या का हल चाहता है। समस्या चूँकि बाहरी है नहीं इसलिए उस स्तर पर उसका हल नहीं हो सकता।

जिस मानसिक अशांति की हम बात कर रहे हैं, जिस मानसिक शांति को हम लाना चाह रहे हैं, वह वे अशांतियाँ हैं जिनका स्रोत मन है। वे चाहे चिन्ता के रूप में आवें, चाहे असुरक्षा के रूप में आवें, चाहे हीन-भावना के रूप में आवें, चाहे पाप के रूप में आवें और चाहे औचित्य-अनौचित्य के अनिर्णयवश सशंकता के रूप में आवें, हैं सब मनोमूलक। इन अशांतियों को मिटाने के लिये अन्दर प्रवेश करना पड़ेगा। अपने अन्तरात्मा के सामने जाना पड़ेगा, समझना पड़ेगा कि हमारे अन्तरात्मा का वास्तविक रूप क्या है। अशांति का मूल कारण है अन्तरात्मा और अहम् का विरोध। अन्तरात्मा और अहम् में जब समन्वय हो जायेगा, एकरूपता हो जायेगी, तब यह विरोध समाप्त हो जायेगा और अशांति के मूल कारण नहीं रहेंगे। जब तक यह नहीं होता है तब तक अशांति के मूल कारण समाप्त होते नहीं हैं।

ये किस प्रकार समाप्त होंगे ? आचार्य अप्पय दीक्षित कहते हैं—

'दासोऽस्मीति त्वयि शिव मया नित्यसिद्धं निवेद्यं
जानास्येतत् त्वमपि यदहं निर्गतः सम्भ्रमामि।

नास्त्येवान्यद् मम किमपि ते नाथ विज्ञापनीयं
कारुण्याद् मे शरणवरणं दीनवृत्तेर्गृहाण।।'

भगवान् शंकर से कहते हैं : आप ही वस्तुतः हमारे अन्तरात्मा के प्रेरक हैं और इसलिए मेरा अहम् है तो हमेशा ही आपका दास। मैं आपका दास हूँ—यह नित्य सिद्ध है। ईश्वर ही वस्तुतः शासन करता है, जीव हमेशा ही उसके द्वारा शासित है। जब हम इसका विरोध करते हैं तब अपने अन्दर अशांति को ही उत्पन्न करते हैं क्योंकि हम उसकी दासता को *स्वीकार* नहीं करना चाहते इसलिए। अगर किसी व्यक्ति को जेल में बन्द कर दिया गया तो वह चाहे दीवाल के ऊपर सिर कूट लेवे, अपने सिर से खून बहा लेवे, लेकिन जेल से बाहर तो नहीं आ सकता ! ठीक इसी प्रकार हम इस कर्मपाश के अन्दर परमेश्वर के द्वारा ऐसे बँधे हुए हैं कि हम कुछ भी करके उससे अपने आपको छुड़ा कर अलग कर लें, यह संभव नहीं है। अर्जुन से भगवान् ने भी यही कहा था कि 'युद्ध न करो' यह संभव नहीं। अंतर इतना ही हो सकता है कि मेरी बात मानकर करो या प्रकृति के द्वारा नियुक्त होकर करो। युद्ध तो करना ही पड़ेगा। आज भी करते तो हम वही हैं जो हमें करना है लेकिन अशांति उत्पन्न करके, अपने आपको दुःखी करके करते हैं। इतना ही फ़र्क़ है। कुछ *देना* नहीं है परमेश्वर को, ऐसा नहीं है कि हम अपनी स्वतंत्रता परमेश्वर को देने जा रहे हैं। हमेशा ही हम परमेश्वर के परतन्त्र हैं। यह जो वास्तविकता है उसी को निवेदित करना है अर्थात् उसको स्वीकार कर लेना है। बस इतना ही हमें करना है। चूँकि इसे हम नहीं कर पाते हैं इसलिए हम उस शांति को बिना प्राप्त किये चारों तरफ भटकते

रहते हैं, चक्कर काटते रहते हैं। एक बार जब हम उस अन्तरात्मा को अच्छी प्रकार समझ लेते हैं, उस अन्तरात्मा के अधीन हम अपने अहम् को कर देते हैं, अर्थात् अन्तरात्मा जो हमसे करवाना चाहता है उसी ओर प्रवण हो जाते हैं, पुण्य जब हमारा स्वभाव बन जाता है, अहम् उसीको करके प्रसन्न होता है तब शांति है। करना तो अभी भी वही पड़ता है लेकिन रोकर करते हैं। उसकी जगह जब वह हमारा स्वभाव हो जाता है तब हमारा जीवन अशांति से निवृत्त होकर शान्ति और सुख को प्राप्त करता है।

प्रवचन—२

मानसिक अशांति के मूल कारणों को जाने बिना शांति की प्राप्ति हो नहीं सकती। जिन अशांतियों का स्रोत मन स्वतः है उनके कई कारण हैं जैसे चिंता, असुरक्षा की भावना, हीनभावना, पापवश अंतरात्मा के संमुख अहं को दुर्बल पाना, अशिक्षावश उचित के प्रति सशंकित रहना आदि अनेक कारणों से मनुष्य का मन स्वतः अशांत रहता है। यह सत्य है कि आत्मा अपने स्वरूप में कभी अशांत होता नहीं। यह समझना बड़ा ज़रूरी है। यदि आत्मा अपने स्वरूप में अशांत हो तो इसे शान्त करना असंभव भी हो जायेगा और कथंचित् किया तो कालान्तर में इसमें पुनः अशांति आ जायेगी। किन्तु वस्तुतः आत्मा का स्वरूप शांत है। इसीलिए मानवमात्र के अन्दर शांति की अभिलाषा है, शांति की इच्छा है। उस स्वाभाविक शांति के अज्ञान से जीव स्वयं को अशांत महसूस करता है। एक बार जब इसका मूल कारण अज्ञान हट जाता है और वह शांति प्रकट हो जाती है, फिर कभी अशांति आती नहीं। यह हुआ पारमार्थिक शांति का स्वरूप जिसे समझना ज़रूरी है।

आचार्य शंकर कहते हैं 'स्वविकारं परित्यज्य वस्तुमात्रतया स्थितिः' अपने जो विकार हैं, जो बिगाड़ आये हुए हैं, उन्हें छोड़ना पड़ेगा। मन के अन्दर बिगाड़ आते हैं पदार्थों की तरफ बार-बार मन के जाने से। उन विकारों को छोड़ कर जो मन की वास्तविकता है वही इसकी उत्तम शांति है। इसी को कहा है 'ब्रह्मनिर्वाणलक्षणा।'

'वाण' दुःख को कहते हैं। दुःख की ऐसी निवृत्ति हो जाना कि कभी भी दुःख न हो, निर्वाण है। यह शुरू में संभव नहीं है कि मन अपने सारे विकारों को छोड़ कर स्वरूपस्थिति में आ जाय। परन्तु इस उत्तम शांति के स्वरूप को समझना इसलिए ज़रूरी है कि इससे हमें यह पता लगता है कि हमारी यह वास्तविकता है, यदि एक बार मिल जायेगी तो फिर हाथ से जायेगी नहीं । जो जिसका स्वरूप नहीं, बलात् उसके ऊपर यदि उसे लाद दिया जाता है तो जब तक कारण उपस्थित है तब तक वह लदा रहता है परन्तु कारण के निवृत्त होते ही पुनः वास्तविकता प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार यदि अशांति हमारे आत्मा का स्वरूप होता तो चाहे जितने प्रयत्न से हम अशांति को हटा देते, कालान्तर में जैसे ही उसके हटने के वे निमित्त निवृत्त होते, वैसे ही अशांति प्रकट हो जाती।

मोटे दृष्टान्त से समझ लेना : जल स्वभाव से ठंडा है। उसको हमने आँच पर रख दिया, तो वह गर्म हो जायेगा। जब तक चूल्हा जलता रहेगा, तब तक वह गर्म होता रहेगा परन्तु जैसे ही अग्नि शान्त हो जायेगी, चूल्हा बुझ जायेगा वैसे ही जल स्वतः ही ठंडा होने लगेगा। उसे ठंडा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा, कुछ समय के बाद वह अपने आप ठंडा हो जायेगा। यानी गर्म सकारण है, ठंडा निष्कारण है। बद्रीनारायण जाओ, गर्म पानी के बारे में ही प्रश्न उठता है कि 'यहाँ यह पानी गर्म कैसे है ?' कभी अलकनंदा के पानी के बारे में प्रश्न नहीं उठता कि 'इसका पानी ठंडा कैसे है' ! क्योंकि उसका स्वरूप ठंडा है। इसी प्रकार हमारा स्वरूप शान्त है। हमारी शांति वास्तविक शांति है। इसीलिए यदि

कोई व्यक्ति शांत बैठा है तो कभी यह प्रश्न नहीं किया जाता 'यह शांत कैसे है ?' परन्तु यदि किसी व्यक्ति को अशांत स्थिति में देखते हैं तब तुरन्त प्रश्न होता है 'क्या बात हो गई, इनको किसने छेड़ दिया, किस बात से विक्षेप हो गया, अशांति कैसे हुई?' अन्य कारण से अशांति होती है, शांति स्वाभाविक है। अशांति का कारण निवृत्त जैसे ही होता है वैसे ही शांति प्रकट हो जाती है। मन की यह उत्तम शांति है जिसे समझ लेना ज़रूरी है क्योंकि तब हम निश्चय-पूर्वक शांति के लिये आगे बढ़ सकते हैं। बहुत से लोग कह देते हैं कि 'अशांति यह हमारे मन का स्वभाव है! क्रोधादि आ जाना स्वभाव है हमारे मन का।' मन का *स्वभाव* कभी भी अशांत नहीं है। काम-क्रोध मन में स्वभावतः नहीं हैं। अशांति किसी कारण से मन के ऊपर आरोपित होती है। जैसे ही वह कारण निवृत्त हो जाता है वैसे ही मन पुनः शांत हो जाता है। इस उत्तम शांति की प्राप्त के लिए हमें अशांति के कारणों को निवृत्त करना पड़ेगा।

अशांति के प्रमुख चार कारण बतलाये थे। उन सब को भी यदि इकट्ठा करके देखें तो पायेंगे कि सारे कारणों का बीज है मन के अन्दर किसी-न-किसी परिस्थिति की, विषय की, अनुभवविशेष की इच्छा। यह जो इच्छा है, तृष्णा है, यही हमारे अन्दर चिन्ता को उत्पन्न करती है, यही हमारे अन्दर असुरक्षा को उत्पन्न करती है। इसलिए यदि इस इच्छा के ऊपर नियंत्रण किया जा सके तो शांति की प्राप्ति हो सकती है। उपनिषद् बतलाती है

'सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये

विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शांतिमत्यन्तमेति।।'

अत्यन्त शांति को प्राप्त करना है तो परब्रह्म परमात्मा शिव का साक्षात्कार करके ही यह संभव है, अन्यथा नहीं। उस शिव की तरफ हमारी वृत्ति जाये कैसे ? इसके लिये नियमित साधना ज़रूरी है।

हमने अपने जीवन को अनियमित कर रखा है, जीवन में किसी भी प्रकार का अनुशासन नहीं है। हम किस समय उठते हैं यह भी हमारा नियम नहीं है। कभी पाँच बजे उठ गये, कभी छह बजे उठ गये, कभी सात बजे उठ गये, कभी आठ बजे उठ गये, कभी नौ बजे भी उठ गये ! उठने का नियम नहीं है। भोजन का नियम नहीं है। विलायती लोग 'दोपहर का भोजन' सुनकर स्वयं समझ लेते हैं कि डेढ़ बजे होगा, रात को भोजन आठ बजे होगा; लेकिन अपने यहाँ निमंत्रण पर समय लिख भी देंगे कि 'आपको आठ बजे भोजन पर बुलाया जा रहा है' तो भी शायद दस बजे तक भोजन परोसने की नौबत न आये ! न हमारे उठने में नियमबद्धता है, न खाने में, किसी भी कार्य में नियम नहीं रखते हैं। यह भी मनुष्य की अशांति का बहुत बड़ा स्रोत है।

जो व्यक्ति जानता है किस समय क्या कार्य करना है वह तुरन्त कार्य करने में लगता है, उसकी दृष्टि कार्य की तरफ जाती है। जो अनियमित व्यक्ति होता है वह 'मैं क्या करूँ, कौन-सा काम मेरा छूट जायेगा, या कौन-सा काम पूरा नहीं होगा'—इसकी

चिन्ता से कार्य-अपूर्ति की असुरक्षा से अशांत हो जाता है। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने इसीलिए प्रातः काल के उठने से लेकर के रात्रिपर्यन्त दिनचर्या कैसी होनी चाहिए इस पर बड़ा ज़ोर दिया है। जिस प्रकार दिनचर्या नियम से होती है उसी प्रकार हमारे आयुर्वेद आदि शास्त्रों को देखोगे तो वहाँ ऋतुचर्या पर ज़ोर है कि किस ऋतु में कौन-सा कार्य करना चाहिए, किस ऋतु में कैसा वस्त्र पहने, किस ऋतु में कैसा भोजन करे आदि। यदि ठीक प्रकार की ऋतुचर्या की जाएगी तो जीवन के अन्दर जो अधिकतर रोगादि होते हैं वे होंगे नहीं। परन्तु वहाँ भी हमारी अनियमितता है, नियमपूर्वक हमारी वहाँ भी प्रवृत्ति होती नहीं।

जैसे नियमपूर्वक प्रवृत्ति का अभाव है वैसे ही अनुशासन का अभाव है। छोटा घर हो और चाहे बड़ा राष्ट्रमंडल हो, कौन घटक किस कार्य के लिए जिम्मेदार है, कौन किसके कहने के अनुसार कार्य करेगा इसकी शृंखला बनी होना समाज की निर्बाध गति-विधि के लिये ज़रूरी है। शृंखलाबद्धता जब होती है तभी किसी कार्य को सम्यग्रूपेण किया जा सकता है। क्योंकि वहाँ हर व्यक्ति जानता है 'मेरी क्या ज़िम्मेदारी है, मैं क्या करूँ।' जहाँ अनुशासन नहीं होता है वहाँ कोई भी व्यक्ति इस बात को महसूस नहीं करता कि 'मेरी क्या ज़िम्मेदारी है।' अनुशासन का मतलब होता है कार्य को नियमतः अनुशासक के अधीन हो कर ही किया जाये। शासक ग़लत आज्ञा भी दे तो अनुशासन कहता है तद्-अनुकूल करो, जैसा कहा गया है वैसा करो। उसके बाद उस व्यक्ति से जाकर कह सकते हो 'मुझे इसमें यह ग़लती नज़र आती है।' जिस समाज के अन्दर अनुशासन होगा, चाहे वह कुटुम्ब का समाज हो चाहे

बड़ा भारी विश्व-समाज हो, वहाँ शांति रहेगी क्योंकि जो तुम्हारी ज़िम्मेदारी का काम है वह तुमने समाप्त कर लिया तो उसकी समाप्ति के साथ ही तुम्हें शांति रहेगी कि 'मैंने अपना कार्य कर लिया।' और जहाँ अनुशासन नहीं होता है वहाँ हमेशा अनिश्चय रहता है कि 'मेरा क्या कार्य है, क्या नहीं है' जिससे सदा अशांति रहती है। कभी दूसरे के कार्य की भी स्वयं पर ज़िम्मेदारी प्रतीत हो जाती है और कभी अपनी ज़िम्मेदारी का दूसरों पर आरोप हो जाता है अतः अशांति की ही सामग्री रहती है जो मन के अन्दर हमेशा चिन्ता, असुरक्षा के भावों को उत्पन्न करती रहती है, हीनता की भावना बराबर आती रहती है। अनुशासन के अभाव में समर्थ लोग भी महत्त्वपूर्ण पद से बचना चाहते हैं क्योंकि जानते हैं कि उनके निर्देशों की अवहेलना होगी, कार्य सही तरह संपन्न नहीं होंगे, जिस सबसे फजीहत उन्हीं की होगी क्योंकि वे पदासीन होंगे। यदि मज़बूरी में पदग्रहण करते हैं तो तनावग्रस्त जीवन रहता है। उच्छृंखलता, अनुशासन में न रहने की प्रवृत्ति मन के अन्दर अशांतियों को उत्पन्न करती है।

इन सब का आधार क्या है ? हम क्यों नहीं नियम से रहना चाहते ? जब जो मर्ज़ी आवे सो करें यह भावना उसका मूल है। घर में भोजन का निश्चित समय नहीं रखते बल्कि निश्चित समय रखने को 'फौजी शासन' कहते हैं क्योंकि चाहते हैं कि जब मर्ज़ी तब खायें। अनुशासनहीन मनुष्य इसीलिए होता है कि सोचता है 'मैं जिस बात को ठीक समझूँ उसे मानूँ, जो नहीं जँचे उसे नहीं मानूँ।' वर्तमान काल के अन्दर जीवन इस उच्छृंखलता में ही पनप रहा है। सरकारी कानूनों में भी दृष्टि रखते हैं कि 'जो कानून

मुझे मान्य होगा वह मैं मानूँगा, जो नहीं मान्य होगा उसे नहीं मानूँगा।' इससे अव्यवस्था अतः अशांति ही हो सकती है। कई बार लोग कहते हैं 'इस सरकार की व्यवस्था बड़ी खराब है।' ठीक है, हमने मान लिया सरकार की व्यवस्था खराब है। कुछ दिनों बाद कहते हैं 'हमने एक मुकदमा दायर किया अमुक व्यक्ति के ऊपर।' जब इस सरकार की व्यवस्था पर तुमें भरोसा ही नहीं है तब तुमने मुकदमा क्यों दायर किया ? मुकदमा दायर करने का मतलब है कि तुम इस राज्य व्यवस्था को स्वीकार करते हो। फिर कुछ दिन के बाद कहता है 'फैसला मेरे विरोध में हो गया। आजकल जितने हाकिम हैं सब रुपये खाने लग गये हैं।' तुमने दावा रखा ही क्यों था जब तुम जानते हो कि लोग रुपये खाने वाले हैं ? अनुशासनहीनता का मूल कारण है यह आग्रह कि 'मेरी इच्छा से जो मुझे ठीक लगेगा वह मैं मान लूँगा, जो मुझे ठीक नहीं लगेगा उसे नहीं मानूँगा।'

इच्छा के कारण ही मनुष्य अपना संतुलन खो देता है। जीवन में आदान और प्रदान का आपस में संतुलन है। कहीं तुम्हें देना पड़ेगा तब कहीं तुम्हें लेना पड़ेगा। कहीं तुम्हें झुकाना पड़ेगा, कहीं तुम्हें झुकना पड़ेगा। यह समतोलता गड़बड़ा जाती है जब हम चाहते हैं कि 'दूसरा तो झुके पर मैं न झुकूँ। दूसरा मेरे मन के अनुसार करे पर मैं उसके मन के अनुसार न करूँ।' इसीलिए जीवन में सभी प्रकार की अशुद्धियाँ बढ़ती जाती हैं। आज लोग केवल पर्यावरण की अशुद्धि की बात करते हैं, परन्तु मन के अन्दर जो अशुद्धियाँ आ रही हैं ये भौतिक प्रदूषण से ज़्यादा नुकसान-देय हैं। जब तक हमारे अन्तःकरण के अन्दर, हमारे मन के अन्दर

शुद्ध भावनाओं का प्रवाह नहीं होगा, जब तक उसके अन्दर आया हुआ विकार, उच्छृंखलता, संतुलन की गड़बड़ी नहीं हटेगी तब तक बाह्य पर्यावरण के परिवर्तन मात्र से शांति नहीं होगी।

अगर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो बाह्य पर्यावरण के अन्दर जो संतुलन गड़बड़ा रहा है उसका भी कारण हमारी अपनी इच्छाएँ हैं। हम जानते हैं हमारी गाड़ी के अन्दर मोबिल ऑयल ज़्यादा जल रहा है, इससे चारों तरफ धुआँ फैलेगा। परन्तु मुझे तो अपना काम निकालना है ! हम जानते हैं कि डीज़ल के धुँए से कैंसर होगा परन्तु डीज़ल सस्ता है, मुझे तो अपना काम निकालना है! कैंसर होगा जिसको होगा। अपनी इच्छा ही तो हमें प्रदूषण फैलाने में प्रवृत्त कर रही है। जब तक अन्तःकरण के अन्दर, मन के अन्दर शुद्धि नहीं आएगी तब तक शांतिकार्य कभी सम्पन्न हो नहीं सकता। जैसे गंदले पानी के अन्दर यदि सूर्य का प्रतिबिम्ब देखोगे तो कभी उसके अन्दर साफ सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ नहीं सकता इसी प्रकार हमारा मन जब तृष्णा रूपी बालू से भरा हुआ है, गंदला हुआ है तब उसके अन्दर कभी आत्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हो नहीं सकता। जब तक हमारे जीवन में शुद्धि, सात्त्विकता, समन्वय नहीं आएँगे तब तक शांति संभव ही नहीं। इच्छा के आते ही अशुद्धि आती है। उसको पूर्ण करने के लिए जब जाते हो तब रजोगुण बढ़ता है। यदि वह इच्छा अपूर्ण रह गयी, हमारे प्रयत्न करने पर भी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, तो तमोगुण बढ़ने लगता है।

इच्छा पूर्ण हो जाने पर भी शांति नहीं होती ! जैसे-जैसे गाय का बछड़ा बड़ा होता जाता है वैसे ही उसके सींग भी बढ़ते चले जाते हैं, ठीक इसी प्रकार शास्त्रकार कहते हैं 'तथैव तृष्णा वित्तेन

वर्द्धमानेन वर्द्धते' जैसे-जैसे हमको इच्छापूर्ति के साधन धन आदि मिलने लगते हैं वैसे-वैसे हमारी इच्छा बढ़ने लग जाती है ! इच्छा की पूर्णता होने पर शांति नहीं आती, उल्टी और अधिक इच्छा बढ़ जाने से अशांत भावना बढ़ जाती है। उतने ही धन का उपार्जन करने वाला, कमाने वाला एक व्यापारी हो और एक सरकारी नौकर हो, तो खर्च करने का स्तर जितना सरकारी नौकर का होगा, उतना उस व्यापारी का नहीं होगा ! जबकि दोनों की आमदनी एक जितनी है। कारण क्या है ? व्यापारी को हमेशा लगता है कि 'ये पाँच सौ रुपये आये हैं। इन्हें व्यापार में लगा देंगे तो हमें फिर फायदा हो जायेगा।' नौकरी वाले को दीखता है कि खर्चे के लिये पैसा आया है ! उस धन से और धन पैदा किया जा सकता है यह उसके मन में नहीं है। व्यापारी के पास जब बढ़ी हुई आमदनी आयेगी तब भी लगेगा 'इसे फिर लगा दें तो और बढ़ोतरी होगी।' उसका रुपया व्यापार में ही घूमता रहेगा। जितना-जितना धन, इच्छाओं को पूर्ण करने के सामर्थ्य-इत्यादि बढ़ते चले जाते हैं उतनी ही उतनी तृष्णा बढ़ती जाती है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि शान्ति चाहते हो तो इन कामनाओं पर नियंत्रण करना पड़ेगा। अपने आप को कैसा बनाना पड़ेगा ? उस समुद्र की तरह बनाना पड़ेगा जो कभी अपने किनारे को नहीं छोड़ता।

'आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।'

भगवान् कहते हैं जो कामनाओं को पूर्ण करने के लिए दौड़ता है, कामकामी है, उसे शांति की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। जिस प्रकार नदियाँ चाहे जितना पानी ले आयें लेकिन समुद्र कभी अपने किनारे को, अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, ठीक इसी प्रकार हमें बनना पड़ेगा। चाहे जितनी कामनायें मन में आती चली जायें लेकिन जो आवश्यकताएँ हमने निर्धारित कर दी हैं उनमें सीमित रहना पड़ेगा। 'मुझे जीवन में इन आवश्यकताओं को ही पूरा करना है, तद्-अतिरिक्त नहीं।' इसकी दृढता रखनी पड़ेगी। चाहे जितनी काम्यमान पदार्थों की हमें उपलब्धियाँ होती चली जायें, हमें सुख सामग्रियाँ प्राप्त होती चली जायें, परन्तु उनका उपयोग नहीं करना है, केवल स्वनिर्धारित सामग्री का उपयोग करना है। जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता उसी प्रकार हम अपने जीवन की मर्यादाओं को किसी भी हालत में छोड़ने की भावना मन में नहीं लायेंगे तब तो शांति मिलेगी अन्यथा नहीं। जैसे-जैसे कामनायें बढ़ती जायेंगी वैसे-वैसे पदार्थ सामने आयेंगे, जैसे-जैसे पदार्थ सामने आते जायेंगे वैसे-वैसे और कामनायें बढ़ती जायेंगी ! जितने पदार्थ बढ़ेंगे उतनी अशांति बढ़ेगी। चीजों की साज-सम्भाल करने में मनुष्य को इतनी परेशानी हो जाती है कि उन चीज़ों का सुख भी नहीं ले पाता। कामना हो जाये और उसे पूरा करने चल पड़ें तो पहले पदार्थों का अर्जन अशांत करता है फिर उनका परिपालन अशांत करता है, सुख-शांति की संभावना कहाँ ! जिस प्रकार से समुद्र अपनी मर्यादा को निश्चित रखता है, छोड़ता नहीं है, इसी प्रकार हम अपने जीवन की आवश्यकताओं की, कामनाओं की मर्यादा की रेखा खींच दें कि 'इससे अधिक

हमें कुछ नहीं करना है' तब शांति संभव है। पहले व्यापारी अपने लाभांश की भी मर्यादा रखता था कि दस प्रतिशत, बीस प्रतिशत लाभ कमाना है अतः शांति से व्यापार कर लेता था। परन्तु आज के व्यापारी की मर्यादा कुछ नहीं ! अगर चार सौ प्रतिशत लाभ हो रहा है और साढ़े चार सौ प्रतिशत लाभ होने की संभावना हो जाये तो वह कहेगा साढ़े चार सौ प्रतिशत लाभ कमाना है। उसकी मर्यादा नहीं है कि 'इतना प्राप्त करना है इतना मेरे लिए संतोष का विषय है इससे मेरी तृप्ति हो जायेगी।' अतः हर सौदे में तनाव रहता है कि 'ज़्यादा-से-ज़्यादा मुनाफा कमाऊँ।' जिस प्रकार व्यापारी की मर्यादा नहीं रही उसी तरह नौकरी करने वाला भी किसी मर्यादा को नहीं मानता है, यह नहीं सोचता है कि 'इतना होने से ही मेरा कार्य हो जायेगा।' समझता है 'कुछ और ज्यादा हो जाय तो अच्छा है।' वह भी किसी प्रकार की मर्यादा को रखने को तैयार नहीं है।

भगवान् ने कहा कि जब तक तुम इस प्रकार के समुद्र नहीं बनोगे—मर्यादा से अपने आप को नियमित नहीं करोगे, नहीं बाँधोगे—तब तक शांति नहीं आ सकती।

काम्य विषयों की ओर हमारी इतनी दृष्टि जाती क्यों है ? क्योंकि हमें यह भ्रम है कि पदार्थ मिलने से हमारा सुख बढ़ेगा। यह बड़ी भ्रांति हमारे मन में बैठी हुई है। वर्तमान काल में औद्योगीकरण के बाद चीज़ों को कैसे अधिक से अधिक बेचा जाये, यही लोगों के मन में आता है। आज से सौ वर्ष पूर्व बीकानेर के अन्दर कोई अंग्रेज़ गया। वहाँ बर्तन बनते थे। मोटी पेंदी के बर्तन बनते थे। उस समय व्यापारी की दृष्टि थी कि जिसको जिस

चीज़ की आवश्यकता है उसको हम वह उपलब्ध करायें। व्यापार किया जाता था आवश्यकता की उपलब्धि कराने के लिए। उसमें अपना लाभ भी हो जाय तथा दूसरों को उपयोगी टिकाऊ वस्तु मिल जाये—यह भाव था। केवल लाभ कमाने का भाव व्यापारी में नहीं था। सोचते थे कि लोगों को घटिया चीज़ मत दो जिससे शिकायत करें। जिस चीज़ की जहाँ ज़रूरत है वहाँ उस चीज़ को पहुँचाओ। मज़बूत चीज़ बनाओ। उस अंग्रेज़ ने लोगों को समझाना शुरू किया कि 'तुम यह पेंदी इतनी मोटी मत बनाया करो, पतली पेंदी बनाया करो, तो जल्दी-जल्दी बर्तन टूटेंगे तो तुम्हारी बिक्री बढ़ेगी।' यह है लाभांश बढ़ाने का भाव, इसमें आवश्यकता-पूर्ति उद्देश्य नहीं है। यन्त्रों के प्रयोग से पदार्थों की उत्पत्ति बढ़ती जाती है इसलिए आवश्यक हो जाता है कि वह पदार्थ किसी न किसी प्रकार बिके। अधिक से अधिक अपव्यय पदार्थों का किया जाये—इसी का नाम है औद्योगीकरण ! पदार्थों का कैसे उपयोग किया जाय—यह दृष्टि नहीं है, उसका अपव्यय कैसे किया जाय यह दृष्टि है। छोटी से छोटी चीज़ में यह दृष्टि स्पष्ट है। काँच की शीशी में मंजन आये तो शीशी बाद में दस काम आयेगी लेकिन आज मंजन आयेगा ट्यूब में जो बाद में किसी काम की नहीं बल्कि उसका कचरा नष्ट करना भी मुश्किल ! इस प्रकार हर चीज में आज दृष्टि अपव्यय की होती है क्योंकि भावना है कि कैसे अधिक से अधिक धन उपार्जित किया जाय। ये विचारधारायें जीवन के अन्दर अशांति को बढ़ाने वाली होती चली जाती हैं। बाह्य विषयों के अन्दर सुखदृष्टि पैदा की जाती है। जिन बाह्य विषयों के अन्दर तुम सुख को नहीं समझते हो उसमें सुख समझो

इसके लिए तीव्र प्रयत्न किये जाते हैं, बड़े-बड़े विज्ञापन किये जाते हैं। कई विज्ञापन देख कर हँसी आती है और हम सोचते हैं क्या हिन्दू भी इतना मूर्ख हो गया है कि सर्वथा असंबद्ध बातें मान लेगा। पर चारों तरफ देखते हैं तब लगता है कि सचमुच ही ऐसे मूर्ख हिन्दूओं में भी पैदा होने लग गये हैं! विज्ञापन से जो वातावरण बनता है वह चित्त में अशांति को उत्पन्न करता है। अशांतियाँ बढ़ती जाती हैं क्योंकि विज्ञापनों से उत्पादित उन कामनाओं को पूर्ण करने में ही जीवन का सारा समय चला जाता है। नतीजा होता है कि जीवन के अन्त तक हमेशा अशांत रहते हैं।

एक राजा बड़ा अशांत रहा करता था। उसका काफी इलाज लोगों ने किया, कोई फायदा नहीं हुआ। किसी महात्मा से कहा कि 'आप इसके लिए कोई दवाई बतावें।' उन्होंने कहा 'राज्य में जो सर्वाधिक शांत व्यक्ति होवे वह जिस कपड़े को पहनता हो, वह कपड़ा इसे पहना दो। उसका पहना हुआ कपड़ा होगा तो उसका असर इस पर आ जायेगा।' लोगों ने ढूँढना शुरू किया। ढूँढते-ढूँढते एक व्यक्ति के बारे में सुना कि 'यह जीवन में कभी अशांत नहीं हुआ है।' लोगों ने सोचा कि चलकर के उसका कपड़ा ले आवें। जब उसके पास गये तब पता लगा कि वह तो नंगा रहता है ! वस्त्र पहनता ही नहीं। यही महात्मा समझाना चाहते थे। उपनिषद् कहती है—

'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति।'

जब मनुष्य आकाश को वस्त्र की तरह पहनने लग जायेगा तब

बिना आत्मज्ञान के दुःख मिटेगा। भगवान् शंकर का नाम दिग्वासा, दिगम्बर इसी बात को बतलाने के लिए है कि पूर्ण शांति होगी तो तुम्हारे पास पदार्थों का सर्वथा अभाव हो जायेगा। जितने पदार्थ बढ़ते जायेंगे उतनी *अशांति* बढ़ेगी और जितनी उनकी कमी होती जायेगी उतनी शांति बढ़ेगी। अतः पहला कदम है आवश्यकताओं की मर्यादा का निर्माण कर लेना।

अगला कदम है कि उनको धीरे-धीरे कम करने की कोशिश करना। अभी तो आप लोगों को एक 'जीवन-स्तर' का रोग लगा दिया गया है। उस स्तर में रोज़ कुछ न कुछ बढ़ोत्तरी करनी है। परन्तु यदि शांति चाहते हो तो रोज़ कुछ न कुछ उसके अन्दर *कमी* करने की सोचो। जब कम करने लगोगे तब बड़ा आश्चर्य होगा कि कितनी चीज़ें ऐसी हैं जो हमारे जीवन में वस्तुतः व्यर्थ हैं। उनके बिना हमारा खास कुछ बिगड़ता नहीं है परन्तु हमने भ्रांति के कारण उन पदार्थों की तरफ अपनी दृष्टि रख कर अपने आप को अशांत बना रखा है। संसार में जितने महान् व्यक्ति हुए हैं सब संयमी हुए हैं। सबने अपनी पदार्थों की आवश्यकताओं को कम किया। जिन्होंने अपनी आवश्यकताओं को कभी हटाया नहीं है, जो हमेशा खर्चीली प्रवृत्ति के रहे हैं, अपव्यय की प्रवृत्ति के रहे हैं, वे जीवन में कभी भी महान् नहीं बन पाये हैं। संयम के द्वारा ही महत्ता आती है।

आजकल एक शिष्टाचार नाम का नया रोग प्रचलित है। इस रोग से आवश्यकताओं की असीम वृद्धि हो जाती है। किसी भी सभ्य समाज के अन्दर कुछ शिष्टचार होते हैं जो किये जाते हैं, परन्तु आज तो 'शिष्ट व्यवहार' के नाम से अनेक औपचारिकताओं

को बढ़ाते जाते हैं। शादी के कार्ड ऐसे बनाते हैं कि प्रत्येक कार्ड हज़ार रुपये का पड़ता है। जन्म-गाँठ मनाते हैं उसमें भी अत्यधिक खर्च हो जाता है। क्योंकि इन्हें शिष्टाचार कहते हैं इसलिये सब शिष्ट बनने के लिये इन औपचारिकताओं में फँस जाते हैं फिर इनके लिये आवश्यक धन आदि कमाने में लग जाते हैं तो शांति कब मिले ? इस प्रकार से निरन्तर औपचारिकता की अभिवृद्धि होती चली जाती है तो हमारे बाकी जितने आदर्श हैं उन सबको यह दबा देती है, उनके लिए हमारे पास समय नहीं बच जाता, सामर्थ्य नहीं बच जाती है, शक्ति नहीं बच जाती है क्योंकि सारी सामर्थ्य तो हमारी इन व्यर्थ की औपचारिकताओं के लिये खर्च हो जाती है ! आज हमने इन्हीं सबको सभ्यता मान रखा है। सभ्य शब्द का अर्थ होता है जो सभा में जाने योग्य हो। सभा होती है जहाँ बुजुर्ग लोग बैठे हों, विचारशील बैठे हों, केवल उम्र के ही बुज़ुर्ग नहीं। हमारे यहाँ नियम कर दिया गया है—कि जिन्होंने नैतिकताओं की मर्यादाएँ नहीं जानी हैं वे केवल उम्र बढ़ने से वृद्ध नहीं हो जाते। जिन्होंने नैतिकताओं की मर्यादाओं को जाना है, समझा है उन्हीं को हमारे यहाँ बुजुर्ग कहा जाता है। ऐसे लोगों के मध्य में जो जाने लायक हो उसे 'सभ्य' कहा जायेगा। आज उससे ठीक विपरीत जो अशिष्टाचरण किये जाते हैं उन्हें माना जाता है कि ये सभ्य आचार हैं! जिस कार्य को व्यक्ति दस भले आदमियों के सामने करने में हिचकिचायेगा उसी कार्य को सभ्यता का पैमाना मान लिया गया है। ये सब चीज़ें हमें अपने आदर्शों से दूर करती हैं और हमारी अशांति का अभिवर्द्धन करती हैं। कुलपरंपरागत धर्म की शृंखलाओं में बँधकर ही यह संभव है कि

मनुष्य अपने जीवन में शांति को पनपा सके। शांति को पनपाने के लिए जीवन के प्रवाह के स्रोत को समझना ज़रूरी है। यह जीवन व्यर्थ कार्यों के लिए नहीं मिला है।

एक ब्राह्मण दरिद्र था। उसने अपने मन में विचार किया कि 'दरिद्रता को दूर करने के लिए मैं तपस्या करूँ। उसके द्वारा मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी, धन की प्राप्ति हो जायेगी। परन्तु मैं, किस देवता को पूजूँ।' विचार करने लगा कि, 'ऐसे देवता को पूजूँ जिसको कोई जल्दी न पूजता हो।' लोक में यही नियम है कि जिस आदमी के पास हज़ारों लोग जाते हैं वहाँ आप पहुँचेंगे तो आपकी बात वह नहीं सुनेगा । जिस व्यक्ति के पास कोई नहीं जाता है वहाँ आप चले गये उससे बतियाने के लिए तो वह बड़ा प्रसन्न हो जायेगा। इसी प्रकार उसने सोचा 'जिस देवता को सब लोग पूजते रहते हैं वह मेरी पूजा से कहाँ प्रसन्न होने वाला है! परन्तु जिसे कोई नहीं पूज रहा हो उसे पूजूँगा तो वह जल्दी प्रसन्न हो जायेगा।' उसे एक मेघखण्ड दिखाई दिया, एक बादल दिखाई दिया। उस बादल का नाम था कुण्डधार मेघ। उसने विचार किया 'इसकी कोई पूजा नहीं करता है, इसकी मैं पूजा करूँ तो यह प्रसन्न हो जायेगा।'

उसने उसकी विधि-विधान से पूजा की। तब उसकी तो कोई पूजा करता नहीं था अतः वह बड़ी जल्दी प्रसन्न हो गया। कुण्ड-धार मेघ ने सोचा 'इसने मेरी अभ्यर्थना इतने प्रेम से की है तो मैं इसको वास्तविक सुख की प्राप्ति कराऊँ।' ब्राह्मण ने रात्रि में स्वप्न देखा कि कुण्डधार यक्षराज मणिभद्र के सामने गया, मणिभद्र उस समय निर्णायक का कार्य कर रहे थे। अच्छे काम करने वाले

की उन्नति, खराब काम करने वाले की अवनति कर रहे थे। कुण्डधार मेघ पहुँचा, उसने प्रणाम किया। मणिभद्र ने पूछा 'क्या चाहते हो तुम, कैसे आये ?' उसने कहा 'मैं अपने लिये कुछ लेने नहीं आया हूँ परन्तु एक ब्राह्मण मेरी पूजा कर रहा है। मैं चाहता हूँ कि उसे कुछ न कुछ मिल जाय।' मणिभद्र कहने लगे 'अगर उसको धन दिलाना हो तो धन देता हूँ अथवा भूखंड आदि कोई चीज़ उसे चाहिये तो वह दिला देता हूँ।' कुण्डधार ने कहा 'राजन् ! संसार के अन्दर सबसे बड़ी चीज़ कृतज्ञता है। जिसने अपने लिये कुछ भी किया होवे, हमेशा याद रखना चाहिए कि उसके लिए मेरे द्वारा उपकार ही होवे।' यह कृतज्ञता का भाव वर्तमान काल में लुप्त हो रहा है। तुमने कुछ किया, हमने धन्यवाद कहा, बस बात खत्म हो गई। अगले दिन हम तुम्हारी गर्दन काटने को भी तैयार हैं ! हमारे यहाँ शब्द है कृतज्ञता। 'कृत'—जो तुमने किया है, उसे मैं हमेशा याद रखूँ, स्मरण रखूँ। 'इसने मेरा पूजन किया है', मेघ ने कहा 'मैं चाहता हूँ उसको *वास्तविक सुख* की प्राप्ति हो।' मणिभद्र ने कहा 'अरे ! इस झंझट में क्यों जाते हो ? जो कुछ भी धन-सम्पत्ति उसे दिलाना होवे दिला दो और छुटकारा करो। लोग धर्मादि करके इन्हीं चीज़ों की तो प्राप्ति चाहते हैं।' कुण्डधार ने कहा 'ऐसा करना मुझे ठीक नहीं जँच रहा है। इसने मेरी आराधना की है। मैं चाहता हूँ इसका वास्तविक कल्याण होवे। इसकी बुद्धि परमात्मा की तरफ जाये क्योंकि यही वास्तविक शांति का स्रोत है।' यक्षराज मणिभद्र ने कहा 'ठीक है ऐसा ही होगा।'

यह सब देख कर ब्राह्मण की आँखें खुल गईं। विचार करने

लगा कि 'मैंने तो धन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था और इसने धन आदि तो दिलाया नहीं, परमात्मा की प्राप्ति की बात कर दी ! इससे क्या होगा ?' तब तक कुण्डधार आ गये। कुण्डधार ने कहा 'ब्राह्मण! तेरे लिए मैंने अच्छी व्यवस्था कर दी है, तू सुख को प्राप्त करेगा।' उसने कहा 'तुम्हारी मैंने पूजा की, तुम ही मेरे मन की बात नहीं समझ सके कि मुझे धन की इच्छा है, तो अब और किस से आशा करूँ।' कुण्डधार ने कहा 'चलो मेरे साथ।' उसे दिव्य दृष्टि मेघ ने दी। वह देखने लगा कि बड़े-बड़े राज्य करने वाले संसार के अन्दर कितने अनर्थ करते हैं, उनकी कैसे दुर्गति होती है। इसी प्रकार तरह-तरह से धन प्राप्त करने वाले लोग किस प्रकार की दुर्गति को प्राप्त करते हैं, किस प्रकार की नरकाग्नि में उनको पकना पड़ता है। जब इस बात को उसने देखा तब उसे समझ आया कि मेघ ने उसका वास्तविक कल्याण कर दिया था। कुण्डधार के प्रति उसने बहुत ही ज़्यादा अपने आप को कृतज्ञ महसूस किया।

जब हम सांसारिक भोगों की चीज़ों से अपने मन को हटा लेंगे तभी हम अपने अन्तःकरण को परमात्मा की तरफ लगा सकेंगे। जब उसे परमात्मा की तरफ लगायेंगे तभी शांति की प्राप्ति होगी। काम-कामना से कभी भी शांति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। संसार के पदार्थों को प्राप्त करने के लिए तो हमें हमेशा दूसरों से द्रोह ही करना पड़ता है। महाभारतकार कहते हैं—जो अधिक धन के उपार्जन में लगे रहते हैं उनके अन्दर सदाचार मिलना, साधुता मिलनी बड़ी कठिन है। हमेशा धन कमाने वाला दूसरों से द्रोह करने की भावना रखता है क्योंकि उससे अधिक से

अधिक लेने की इच्छा करता है। आचार्य शंकर तो यहाँ तक लिखते हैं कि एक कौर अन्न भी हम खाते हैं तो दूसरे प्राणियों की उस पर दृष्टि है; मक्खी चाहती है 'मैं खा लूँ।' उसको भी हम तुरन्त उड़ा देते हैं। वह बेचारी एक कण लेकर चली जायेगी पर वह भी हमें सहन नहीं है। छोटे प्राणी से लेकर के बड़े प्राणी तक अपने हृदय के अन्दर उस कौर की इच्छा रखते हैं। अतः उन सबको पीड़ा देकर ही हम वह कौर खा सकते हैं। जब एक कौर खाने में यह हाल है तब धन के अभिवर्धन में द्रोह की भावना बढ़ती चली जाती है इसमें क्या कहना ! इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि यह मार्ग अशांति का है। जब इसको छोड़ते हैं तभी शांति का मार्ग-परमात्मा की तरफ जाने का मार्ग मिलता है।

प्रवचन-३

मानसिक अशांति के स्वरूप पर विचार किया। उस अशांति का क्या स्रोत है, क्या बीज है इसकी चर्चा की। इच्छा ही उन अशांतियों का बीज है। अब अशांति निवृत्ति का विचार करते हैं।

संसार के अन्दर जितनी कुछ भी हमारी क्रियाएँ होती हैं उन सब में, हम मानें या न मानें, हमें कार्य-कारण भाव पर आन्तरिक विश्वास बना रहता है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य है और जहाँ कारण है वहाँ कार्य उपस्थित होगा। छोटी से छोटी चीज़ में यही बात है : हमें भूख लगी है। पहले हमने भूख लगने पर भोजन किया था तो भूख दूर हो गई थी, अतः आज भूख लगी है तो हम फिर भोजन की तैयारी के लिए प्रवृत्ति करते हैं। हमारी आन्तरिक श्रद्धा है कि भोजन रूपी कारण से भूख की निवृत्ति रूपी कार्य उत्पन्न होगा। इसी प्रकार जहाँ हम कोई कार्य देखते हैं वहाँ तुरंत हमें निश्चय हो जाता है कि इसके पीछे कोई कारण अवश्य है। किसी बच्चे को हमने प्रथम श्रेणी में भी प्रथम स्थिति में उत्तीर्ण होते देखा, तो तुरंत हम जानते हैं कि इस बच्चे ने परिश्रम किया है। समग्र विज्ञान भी इस कार्य-कारण-व्यवस्था को मान कर ही प्रवृत्त होता है। कार्य-करणभाव की शृंखलाओं का हमें ज्ञान न हो यह संभव है; कौन-सा कार्य किस कारण से उत्पन्न होगा—यह हमें पता न हो यह संभव है, परन्तु हम यह निश्चित जानते हैं कि यदि कार्य उत्पन्न हुआ है तो कारण अवश्य है।

इस कार्यकारण की शृंखला के आधार पर ही भारतीय मनीषियों ने कर्म और कर्मफल के सिद्धांत का निरूपण किया। हम जो भी कर्म करते हैं वह क्रियारूप है, कारण है, इसलिए उससे अवश्य ही कार्य उत्पन्न होगा। संसार के अनेक विचारक बाकी सब जगह कार्य-कारणभाव को स्वीकार करके भी मनुष्य-जीवन के सुख-दुखों के प्रति इस कार्य-कारणभाव को छोड़ कर विचार करने लगते हैं ! यह जीवन ही प्रथम और अन्तिम जीवन है—यह मान्यता वस्तुतः कार्य-कारणभाव को तोड़ने वाली है। क्योंकि इसका भाव है कि हमारा जन्म हुआ पर इसका कारण कुछ नहीं। यदि कहें केवल ईश्वरेच्छा ही इसमें कारण है तो प्रश्न होगा कि ईश्वरेच्छा का नियामक कौन होगा ? क्यों हम आज उत्पन्न हुए, क्यों ईश्वर की इच्छा आज ही हुई, इसके पहले नहीं हुई और बाद में नहीं हुई ? अतः यह विचार कि 'यही एक ही जीवन है' कुछ मत, मजहब वाले लोग मानते हैं और सामान्य जो चार्वाक हैं, चाहे वे समाजवादी, साम्यवादी इत्यादि होवें, वे सब यही मानते हैं कि यह जीवन यहीं शुरू हुआ और यहीं समाप्त हो जायेगा, न इसका पीछे कोई कारण है न इससे आगे कोई कार्य उत्पन्न होगा। परन्तु केवल मनुष्य जीवन को छोड़कर बाकी सर्वत्र कार्य-कारणभाव स्वीकारना, केवल जीव के संदर्भ में कार्य-कारण भाव को स्वीकार न करना, यह सर्वथा विचार-बुद्धि से विरुद्ध पड़ता है। कार्य-कारणभाव के अनुसार ही इस जीवन में हम आये हैं। अपने पूर्व-कर्मों का फल भोगने के लिए यहाँ आये हैं।

जिन फलों को हमें इस जीवन में भोगना है उन्हीं को हम 'प्रारब्ध' कहते हैं। 'आरब्ध' शब्द का अर्थ होता है जो शुरू हो

गया हो। 'प्रकर्ष से आरब्ध' का मतलब है यह ऐसी चीज़ शुरू हुई है जो अपने फल को अवश्य उत्पन्न करेगी। जैसे हम युद्ध में गये हुए हैं। हमारी पीठ के ऊपर तूणीर है, उसके अन्दर सौ बाण हैं। अथवा आज की भाषा में हमारे पास 'स्टेनगन' है और उसके अन्दर सात 'राउन्ड' चलने वाले हैं। हमने एक बाण निकाल कर छोड़ दिया। दूसरे बाण को निकाल कर धनुष पर लगा कर लक्ष्य को बींधने के लिए आँख जमा कर देखना प्रारंभ कर दिया। और भी बहुत से बाण हमारे तूणीर में, भाथे में पड़े हुए हैं। जो बाण तूणीर में पड़े हुए हैं उनका प्रयोग करने-न करने में हम स्वतंत्र हैं कि आगे हम उन बाणों को चलावें या न चलावें। ले के आये हैं, इसलिए युद्ध में छोड़ने की नियत से ही आये हुए हैं परन्तु फिर भी हमारे हाथ में है कि हम उन्हें छोड़ें या न छोड़ें। जिसको हमने धनुष पर चढ़ा लिया है, हमने जिसका संधान कर लिया है, जो बाण और उसका लक्ष्य सर्वथा आमने-सामने आ चुके हैं, उसे भी हम न छोड़ें इसमें हम स्वतंत्र हैं। परन्तु जो बाण हम छोड़ चुके, वह तो अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा ही। छूटे हुए बाण को 'प्रकर्ष से आरब्ध' या प्रारब्ध कहा जायेगा। हमारे इस शरीर का निर्माण हो गया तो इस शरीर में जिन कर्मों के फलों को भोगना है उनको भोगना ही पड़ेगा। जो इस शरीर के अन्दर अभी छूटा हुआ बाण नहीं है उसके अतिरिक्त जितने हमारे कर्म हैं, उनको हम भोगें न भोगें इसके बार में कुछ उपाय किया जा सकता है। परन्तु जो बाण छूट चुका है, जो इस शरीर में भोग्य रूप से आ चुका है उसके फलभूत सुख-दुःख का भोग अवश्यम्भावी है।

यह जो कर्म के प्रति निश्चय है, इससे मनुष्य की अशांति

के दूर होने का एक बहुत बड़ा उपाय मिलता है। हम व्यर्थ की चिंताओं से रहित हो जाते हैं। शास्त्रकार कहते हैं थोड़ा-सा विचार करो जब हम गर्भ में आये थे तभी माता के स्तन में दूध आ गया। पैदा होते ही हमें दूध की उपलब्धि हो गई। यदि हमारे गर्भ से निकलने के पहले हमारे कर्मफल को भोगने के लिए माता के वक्षःस्थल में दूध आ गया तो उत्पन्न होने के बाद हमारे समग्र प्रारब्ध कर्मों का भोग हमें समय पर मिलेगा इस विषय में संदेह करना सर्वथा व्यर्थ ही मानना पड़ेगा। प्रारब्ध के ऊपर दृढ विश्वास से मनुष्य यहाँ भोगने वाले सुख-दुःख के प्रति भावना रखता है कि 'इसके बारे में चिंता करना व्यर्थ है' और साथ में जानता है कि 'जो भी अच्छा-बुरा कर्म मैं यहाँ करूँगा उसका फल मुझे आगे भोगना ही पड़ेगा।' इसलिए उसे असुरक्षा की भावना नहीं होती कि 'हम कर्म करेंगे और इसका फल न हुआ तो।' अधिकतर अधर्म में प्रवृत्ति का मूल कारण यही बनता है। हम सोचते हैं यदि हमने ईमानदारी की, सत्य का रक्षण किया और आगे उसका फल न हुआ तो क्या लाभ होगा ?

ऐसा संदेह होता क्यों है ? नैतिक कर्म सद्यः फल नहीं देते। संसार में अनेक चीज़ें हैं जो तुरंत फल नहीं देतीं। आजकल कई रोगों के प्रति जन्तुनाशक (ऐन्टीबायोटिक) औषधि दी जाती है। आप उसका तीन दिन तक सेवन करते हैं, कोई लाभ नहीं दीखता। चिकित्सक कहता है 'फायदा करेगी, संदेह न करो, दो दिन और दवाई लो।' रक्त में जब तक उस औषधि का अमुक परिमाण एकत्रित नहीं हो जायेगा तब तक यह अपना कार्य नहीं कर सकेगी। रक्त के अन्दर उस औषधि का कोई विशिष्ट परिमाण

एकत्रित होना फलोत्पत्ति के लिए आवश्यक है। एस्प्रो आदि तत्काल असर दिखाने वाली दवाइयाँ प्रायः रोग मिटाती नहीं, रोग दूर करने वाली दवाइयाँ प्रायः तत्काल असर दिखाती नहीं !

जैसे इन औषधियों को फल उत्पन्न करने में समय लगता है ऐसे और भी अनेक चीज़ें हैं। बीज बो दिया तो तीन महीने शांति से इन्तज़ार करना पड़ेगा। बन्दर बहुत नकल करने के स्वभाव वाला होता है। एक बार बन्दरों ने आपस में विचार किया कि 'रोज़ इधर उधर से चोरी करके खाते हैं। जैसे मनुष्य अनाज पैदा करता है वैसे हम भी पैदा कर सकते हैं। रोज़ रोज़ चोरी क्यों करें ?' बन्दरों ने कहीं अच्छी ज़मीन देख ली और उसमें बोने के लिए गेहूँ के बीज चुरा लाये। उन्होंने बीज बो दिये, ज़मीन में दबा दिये। परन्तु बन्दर के अन्दर धैर्य नहीं होता । इसलिए घण्टा दो घण्टा के बाद उन्होंने सोचा कि 'ज़रा देखें तो सही गेहूँ के अन्दर कुछ परिवर्तन हुआ या नहीं।' उन्होंने ज़मीन को ज़रा खोदा और बीज निकाला, देखा कि कोई परिवर्तन नहीं तो फिर रख दिया, ढाक दिया। फिर घण्टे दो घण्टे के बाद उठा कर देखा! यदि इस प्रकार देखते रहेंगे तो क्या वह बीज शस्य को उत्पन्न करेगा, धान को उत्पन्न करेगा ? बीज बो दिया तो तीन महीने के बाद ही आप उसके दानों को प्राप्त कर सकते हैं, उसके लिये धैर्य की अपेक्षा है।

जैसे ये सब चीज़ें तुरन्त फल उत्पन्न नहीं करतीं वैसे ही नैतिक जीवन का फल तुरन्त उत्पन्न नहीं होता, धैर्य की आवश्यकता पड़ती है। इन कर्मों का फल देने वाला परमेश्वर है यह दृढ विश्वास जिसे होगा वही धैर्यपूर्वक रहेगा, अन्यथा अधीरता आ जाएगी।

आचार्य पुष्पदन्त कहते हैं :

'क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवम्।'

कहीं भी कर्म समाप्त हो जाय और फल तुरन्त उत्पन्न न हो तो कोई-न-कोई चेतन उसके फल को उत्पन्न करने वाला है इस बात को जो जानेगा वह तो धैर्य रख सकेगा। कर्म समाप्त हो गया परन्तु 'यह कर्म ठीक हुआ' इसका संस्कार चेतन में मौजूद है, वही समुचित देश-काल-निमित्त से फल देगा। जिसे ऐसे चेतन पर श्रद्धा नहीं वह सोचेगा कि कर्म निष्फल रह गया। मुकदमे में सत्य बोले, हार गये। श्रद्धालु जानता है कि 'सत्यवदन से ईश्वर का संकल्प हो चुका है कि मुझे समय आने पर सत्फल मिलना है' अतः हार से उसका सच बोलना बंद नहीं होगा। अश्रद्धालु तात्कालिक अनिष्ट फल देखकर सत्य से विमुख हो जायेगा। अतः कर्मफलदाता ईश्वर पर विश्वास वाला ही श्रुति पर श्रद्धा रखकर सत्कर्म में निरत रह सकता है। इस दृढ विश्वास से ही अशांति के बीज चिंता आदि की निवृत्ति हो सकती है।

शांति प्राप्त करने के लिये इस बात का निश्चय धीरे-धीरे दृढ करना पड़ता है। कार्य-कारणभाव की परम्परा निश्चित है। फल देने वाला परमेश्वर सदा उपस्थित है। इसलिए हमने अच्छा या बुरा जो किया, उसका फल हमें भोगना ही पड़ेगा। यदि यह निश्चय न हो तो मन में अशांति और भयाक्रांतता बनी रहती है। यदि निश्चित हो कि बुरा करके फल ठीक हो ही जायेगा तब भी मनुष्य कह सकता था कि 'मुझे अगले जन्म की चिंता नहीं है,

इस जन्म में तो सुख भोग लूँ।' लेकिन ऐसा भी यहाँ कोई निश्चय नहीं है ! कई बार सच बोलकर भी मुकदमा हारते हैं तो कई बार झूठ बोलकर भी मुकदमा हारते हैं। यह निश्चय कैसे होवे कि झूठ बोल कर मुकदमा जीत ही जायेंगे ? अतः हमेशा चिंता बनी रहती है। यदि हमें पता है कि सत्य बोलने का फल ठीक होगा ही तब मन के अन्दर शान्ति रहती है। प्रारब्ध के ऊपर विश्वास, फल देने वाले परमेश्वर के ऊपर श्रद्धा—यह मनुष्य की शान्ति को उत्पन्न करने की पहली सीढ़ी है।

जब यह भावना दृढ हो जाय तब अगला विचार करना चाहिए कि शिव का मुझ पर प्रेम है। परमेश्वर का मैं पुत्र हूँ इसलिए परमेश्वर का मुझ से अवश्यमेव प्रेम है। अतः प्रेमपूर्वक जो भी वह मुझे कर्मफल दे रहा है वह मेरे कल्याण के लिए है। कर्मफल वह दे रहा है यह ठीक है, लेकिन उसका उद्देश्य मेरा कल्याण है। अतः उस कर्मफल को भोगने में, दुःखरूपी फल को भोगने में भी हृदय के अन्दर इस प्रकार का आनन्द होना चाहिए कि अपने ही कल्याण के लिये मैं ईश्वरदत्त यह कर्मफल भोग रहा हूँ। छान्दोग्य उपनिषद् कहती है कि यदि बुखार आ जाय, शरीर तप रहा हो तो उसमें तपस्या की दृष्टि करनी चाहिये। नास्तिक का मानना है 'मुझे ज़बर्दस्ती बुखार से पीडित किया जा रहा है।' कार्यकारणव्यवस्था मानने वाला आस्तिक जानता है 'मैंने जो पाप किया था उसी के फलस्वरूप प्रारब्धानुसार भोगना पड़ रहा है।' अगला स्तर है 'इस ज्वर के द्वारा, इस बुखार के द्वारा परमेश्वर मेरे मल को, दोष को दूर कर रहा है।'

जैसे हम निर्जला एकादशी को प्रसन्नतापूर्वक जल तक न

पी कर व्रत रखते हैं, कष्ट होता है परन्तु हम उस कष्ट को प्रसन्नता पूर्वक भोग लेते हैं। दूसरी तरफ हमारे पिताजी ने नियम कर दिया 'निर्जला एकादशी के दिन किसी को खाना मिलेगा ही नहीं' इसलिए उस दिन हमें भोजन नहीं मिल रहा है। हम सोच रहे हैं 'पिता जी बड़े ही पुराणपंथी हैं। हमें बड़े कष्ट में डाल रखा है। हमने ख्याल नहीं किया, दो दिन पहले हम कहीं घूमने चले गये होते तो बाहर जा कर खा ही लेते, लेकिन अब क्या करें, घर में फँस गये ! पता ही नहीं था कि निर्जला एकादशी आने वाली है।' तब भी हम दिन भर कुछ नहीं खाते हैं पर केवल पिता के अनुशासनवश न खाने की हमें कोई प्रसन्नता नहीं, उससे कोई सन्तोष नहीं है। क्रिया एक ही है लेकिन यदि उसको हम आनन्दपूर्वक करते हैं तब तप हो गया, उसका फल हो जायेगा और यदि ज़बरदस्ती मान कर हमने भोग लिया तो कोई तप नहीं हुआ, कोई फल नहीं होगा। भूखे रहकर हमने दुःख का अनुभव किया, कोई-न-कोई ऐसा कर्म पहले किया होगा जिसके नतीजे से वह दुःख आया था, उसे भोग लिया। उस भूखे रहने से आगे फल देना वाला कोई कर्म नहीं हुआ।

ठीक इसी प्रकार हमें ज्वर आया। 'यह ज्वर परमात्मा ने हमें दिया है इसलिए हमारे कल्याण के लिए आया हुआ पदार्थ है। बड़ा अच्छा हुआ कि ज्वर आया है। परमेश्वर ने भेजा है।' यों हम जब उसे आनन्दपूर्वक भोग लेते हैं तो उसी से तप की सिद्धि हो गई। 'मैं तप कर रहा रहूँ, परमेश्वर प्रसन्न हो इसलिये उसकी इच्छानुसार इस कष्ट को भोग रहा हूँ'—कष्ट में भी इस प्रकार से प्रसन्नता बनी रहे, यह शांतिप्राप्ति की दूसरी सीढ़ी है। इसमें

केवल शांति ही नहीं, उससे ज़्यादा, थोड़ी सुखरूपता का स्फुरण भी हो रहा है। हमें यह निश्चय है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, वे क्षमा भी कर सकते हैं परन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो बिना दण्ड के लाभकारी नहीं होतीं। यदि हम बच्चे की हर ग़लती को केवल क्षमा करते रहेंगे तो क्या बच्चे की उन्नति हो सकेगी? धीरे-धीरे वह बच्चा उद्दण्ड हो जायेगा, अपने जीवन को नष्ट कर लेगा। यदि बच्चे को ठीक प्रकार से हम शिक्षित करना चाहते हैं तो उसे दण्ड भी देना पड़ेगा। वह यदि किसी को थप्पड़ मारता है तो उतने ही ज़ोर से उसे थप्पड़ मार कर बताना पड़ेगा कि 'इतना दर्द होता है थप्पड़ खाने से।' उस दण्ड के द्वारा ही वह सुधरेगा। यद्यपि परमेश्वर क्षमा कर सकते हैं, तथापि हमारी शुद्धि के लिए ही वे दण्ड दिया करते हैं। जैसे ही हमारा दोष सुधर जाता है वैसे ही वे हमें पूर्वापेक्षया श्रेष्ठ स्थिति में आते हैं।

आचार्य शंकर कहते हैं कि भगवान् शिव के मुकुट के ऊपर चन्द्रमा क्या बतला रहा है ?

'वक्राकारः कलंकी जडतनुरहमप्यङ्घ्रिसेवानुभावाद्
उत्तंसत्वं प्रयातः सुलभतरघृणास्यन्दिनश्चन्द्रमौलेः।'

चन्द्रमा बिल्कुल टेढ़ा है। द्वितीया का टेढ़ा चन्द्रमा भगवान् शंकर के सिर पर है। टेढ़े आदमी को बुरा माना जाता है। चन्द्र के बीच में कलंक भी लगा हुआ है। चन्द्रमा का जीवन कलंकित रहा है। चन्द्रमा को दक्ष ने अपनी सत्ताईस कन्याओं को विवाह में दिया और कहा, 'सबसे एक जैसा व्यवहार करना।' परन्तु चन्द्रमा ने नहीं किया। बार-बार समझाने पर भी नहीं किया। अन्त में उसको

शाप लगा। उसी की निवृत्ति के लिए उसने भगवान् शंकर की आराधना की। चन्द्र के द्वारा सोमनाथ की स्थापना हुई, वहीं चन्द्रमा ने तपस्या की थी। भगवान् शिव ने प्रसन्न हो कर उसे पुनर्जीवन भी दिया और अपने सिर पर धारण किया। अत्यन्त ही जड चन्द्र की बुद्धि है क्योंकि समझाने पर भी नहीं समझा। शरीर उसका जड है ही। यों टेढा, कलंकी, जड चन्द्रमा कहता है कि 'मैंने भगवान् शंकर के चरण-कमलों की सेवा की, उसके प्रभाव से मैं इतना उन्नत हो गया कि भगवान् शंकर के मौलि में, सिर के ऊपर मुझे स्थान मिल गया ! क्योंकि परमेश्वर कैसे हैं ? कृपा उनके अन्दर से बहती रहती है, अत्यंत सरलता से बहती रहती है।' उनकी कृपा नित्य बहती ही रहती है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि चंद्रमा का यह संदेश है, वह अपनी उस उच्च अवस्था से ही हमें उद्बोधित कर रहा है 'तत्सेवन्तां जनौघाः शिवमिति निजयाऽवस्थयैव ब्रुवाणम् कि उस परमेश्वर के चरणों की सेवा करो।' यह वह अपनी अवस्था से ही बतला रहा है। यद्यपि चन्द्रमा के अन्दर दुर्गुण थे तथापि जैसे ही उसने उन दुर्गुणों से वृत्ति को हटाया, उस कष्ट को सहन कर लिया, वैसे ही उसे उन्नत स्थान उपलब्ध हो गया।

इसी प्रकार हम अपने पाप का फल भोग रहे हैं। परन्तु जब हम परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को, उनकी करुणा को समझेंगे कि उनका दण्ड केवल हमें उन्नत बनाने के लिये है, चन्द्रमा का दृष्टान्त याद रखेंगे, तब वह कष्ट हमारे लिये दुःखप्रद नहीं रह जायेगा। आचार्य शंकर तो कहते हैं कि, हम उत्पन्न होवें इसके पहले ही परमेश्वर हमारे ऊपर दया करने की तैयारी करते हैं !

एक प्रश्न वे उठाते हैं कि क्या कारण है शिव पहाड़ों में घूमते हैं ? क्या कोई अच्छे स्थान उनको घूमने के लिये उपलब्ध नहीं हैं, मिलते नहीं हैं ? क्यों वे ऐसे टेढ़े मेढ़े पहाड़ों के ऊपर नंगे पैर ही घूमते रहते हैं ? कारण क्या है ? आचार्य उत्तर देते हैं कि वे तैयारी कर रहे हैं !

'एष्यत्येष जनिं मनोऽस्य कठिनं तस्मिन्नटानीति मद्-
रक्षायै गिरिसीम्नि कोमलपदन्यासः पुराऽभ्यासितः।
नो चेद् दिव्यगृहान्तरेषु सुमनस्तल्पेषु वेद्यादिषु
प्रायः सत्सु शिलातलेषु नटनं शम्भो किमर्थं तव।।'

भगवान् ने सोचा कि यह साधक उत्पन्न होगा ही और इसका मन बड़ा कठोर होगा। यह मेरा स्मरण करेगा तो इसके कठिन मन के अन्दर, कठोर मन के अन्दर मुझे घूमना पड़ेगा। यदि मैं नहीं घूमूँगा तो इसका रक्षण कैसे होगा ? आचार्य कहते हैं कि इस विचार से ही आपने अपने कोमल चरणों को उन पहाड़ों के ऊपर चल कर अभ्यास डाल लिया कि मेरे कठोर मन पर चल सकें। मेरे उत्पन्न होने से पहले ही आपने अभ्यास कर लिया। यदि ऐसी बात न हो, तो दिव्य कोमल स्थानों को छोड़कर ऊबड़-खाबड़ पहाड़ों पर क्यों घूमते ? बड़े-बड़े देवता, इन्द्र, वरुण आदि प्रार्थना करते रहते हैं कि आप उनके घर जाएँ; वहाँ बड़े बढ़िया गलीचे बिछे होते हैं, उन पर आप घूम सकते हैं। गुलाब इत्यादि फूलों की पंखुड़ियाँ बिछे बढ़िया बिछौने होते हैं, उनके ऊपर आप घूम सकते हैं। लोग आपके लिये सारी उत्तम तैयारी करके रखते हैं। सुन्दर वेदी इत्यादि बनाते हैं, जहाँ आप आवें। ये सब

जगहें उपलब्ध हैं पर इन्हें छोड़ कर आप शिलाओं के ऊपर घूमते हैं ! इसका एकमात्र कारण है कि आप अभ्यास करना चाहते हैं ताकि मुझ जैसों के मनस्तल पर विचर सकें। जब इस बात का मनुष्य को निश्चय होता है कि परमेश्वर मेरा कल्याण करने को उतावला है, तब उसे भय नहीं रह जाता। 'मेरा रक्षण करने के लिये परमेश्वर हमेशा तैयार है' इस बोध से असुरक्षा की भावना का बीज ही खत्म हो जाता है।

कोई कह सकता है कि 'हो सकता है परमेश्वर तुम्हारे ऊपर करुणा करे परन्तु क्या वह तुम्हारे को सब दोषों से मुक्त कर सकेगा?' आचार्य कहते हैं कि उसकी सामर्थ्य स्पष्ट है। भगवान् शंकर को पंचमुख कहा जाता है और शेर को भी पंचमुख कहा जाता है।

'करलग्नमृगः करीन्द्रभंगो
घनशार्दूलविखण्डनोऽस्तजन्तुः।
गिरिशो विशदाकृतिश्च चेतः-
कुहरे पञ्चमुखोऽस्ति मे कुतो भीः।।'

भगवान् शंकर के हाथ में मृग है। हरिण बतलाता है कामनाओं को। भगवान् शंकर ने हाथ में मृग के दो पैर पकड़े हुये हैं इसलिये मृग दौड़ नहीं सकता, दौड़ने का प्रयत्न करता है। जिस कामना पर विजय करना असंभव है वह कामना कितनी ही छटपटाये, एक बार परमेश्वर के हाथ में हम अपना मन दे देंगे तो मन चाहे जितना छटपटावे, लेकिन भाग नहीं सकेगा ! हाथी रूप गजासुर को मार कर ही भगवान् ने गजचर्म पहन रखा है। हाथी को शास्त्रों

में अत्यंत कामुक माना है। गजासुर हाथियों का भी शासक है अर्थात् बड़े से बड़ा हाथी है। न केवल शिव के हाथ में मृग, मन सुरक्षित रहता है, वरन् वह यदि हाथी की तरह कामुकता की तीव्रता कर भी लेवे तो उसको भंग करने में वे समर्थ हैं। हाथी को भी मारने वाला बाघ कहा जाता है। ये सब एक दूसरे से प्रबल हैं—हरिण के अपेक्षा हाथी प्रबल, हाथी की अपेक्षा बाघ प्रबल। उसे भी उन्होंने दबा रखा है ! ऐसा जो वह शेर है, पंचमुखी महादेव है वह हमारे चित्त रूपी गुफा के अन्दर बैठा हुआ है। जब वह मेरे अन्तःकरण की गुफा के अन्दर बैठा हुआ है, तो मेरे लिये भय की संभावना ही कहाँ ? ईश्वरनिष्ठा से यह भयहीनता की दृष्टि सहज हो जाती है।

एक बड़े भक्त हुये हैं अप्पर, वागीश उनका नाम था। अत्यंत सुन्दर काव्य की रचना करने के कारण उनको वागीश कहते थे। जीवन में उनके माता पिता बहुत जल्दी गत हो गये। बहन ने उनको बड़ा किया। तरह-तरह के विचारों को जानने की, दर्शनों को जानने की, साधनाओं को जानने की उन्हें बड़ी रुचि थी। इसलिये जैसे-जैसे बड़े होते गये, वैसे-वैसे भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। उस समय जैन विद्वान् बड़े प्रबल थे। प्रभावित होकर उन्होंने जैन धर्म को स्वीकार कर लिया, उसका प्रचार करने लगे। परमेश्वर से विमुख हो गये, क्योंकि जैन धर्म में कर्म को ही माना जाता है, कर्मफल देने वाले परमेश्वर को स्वीकार नहीं किया जाता। उनकी बहन के मन में बड़ी वेदना होती थी 'यह ग़लत रास्ते जा रहा है।' लेकिन वह कोई विदुषी तो थी नहीं जो उनको समझा सके। अतः बार-बार भगवान् शंकर से प्रार्थना ही

करती थी, कि 'यह ग़लत रास्ते से ठीक रास्ते पर आ जाए।'

प्रार्थना से प्रबल चीज़ कुछ नहीं होती। कई बार लोग पूछते हैं 'महाराज, लड़का बात न माने तो क्या करें, भाई बात न माने तो क्या करें ?' सर्वोत्तम उपाय है—परमेश्वर से प्रार्थना करो कि 'इसको सद्बुद्धि दें।' प्रार्थना जो काम कर सकती है, वह काम और कुछ नहीं कर सकता। आजकल लोग यह समझते हैं, 'किसी को यदि हमने ऐसा जवाब दे दिया जिसका वह प्रत्युत्तर नहीं दे सका तो हम जीत गये।' यों जीतते नहीं हो! वह उस क्षण से जा कर निरन्तर प्रयत्न करता है कि आपकी बात का कोई जवाब सोच कर आवे। इसलिये जब तक उसके हृदय में आपकी बात जँच नहीं जावेगी, तब तक केवल आपने उसको मुँह से चुप कर दिया तो उससे कुछ लाभ नहीं होता। वास्तविक लाभ तब तक नहीं हो सकता जब तक हृदय में उसके प्रति वास्तविक प्रार्थना का भाव न हो। उसके कल्याण की भावना जब हमारे अन्दर होगी तभी उसमें आन्तरिक सुधार हो सकता है।

अप्पर की बहन प्रार्थना करती रही। एक बार भगवान् शंकर ने उसे दर्शन देकर कहा, 'मैं पुनः उसे सन्मार्ग में लाने के लिये उदर रोग का सहारा लूँगा। उसे उदरशूल हो जाएगा। तुम बिल्कुल घबराना नहीं।' परमेश्वर अपनी तरफ मनुष्य को किस प्रकार से खींचते हैं, कुछ पता नहीं चलता। अप्पर को उदरशूल हो गया। सब तरह की औषधियाँ कर लीं लेकिन कोई फल नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा धीरे-धीरे सेवा करने वाले भी सेवाविमुख होने लगे! संसार का स्वरूप ही ऐसा है। जिन जैनियों के पीछे उन्होंने अपना धर्मादि सब छोड़ा, जिनके धर्म के प्रचार में जीवन बिताया, जब

वे भी उन्हें उस अवस्था में छोड़ गये तब अप्पर को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उन्हें अपनी करुणामयी शिवभक्त बहन की याद आयी। वे किसी तरह अपनी बहन के पास पहुँचे। बहन के सामने अपनी सारी हालत कही। बहन को तो पहले ही पता था। उसने कहा, 'देखो, उदरशूल तो तुमको अपने कर्म के फल से हुआ है। परमेश्वर जो करते हैं वे कल्याण के लिये करते हैं। इसलिये इसमें तुम कल्याण-बुद्धि करो और परमेश्वर की शरण में जाओ।' अत्यंत वेदना होने के कारण उसने उस बात को बिना ऊहापोह के स्वीकार कर लिया। उसमें तपोदृष्टि करते हुये वे 'ॐ नमः शिवाय' के जप में और परमेश्वर के ध्यान में लग गये। उदरशूल ठीक हो गया और उसके साथ ही उनके अन्दर परमेश्वर के प्रति दिव्य भावना का उदय हो गया। ठीक हो कर वे चारों तरफ घूम कर लोगों को परमेश्वर के विषय में समझाने लगे।

जब पूर्व सम्पर्क वालों को, जैनों को इस बात का पता लगा तब उन्होंने राजा से शिकायत की कि 'यह पहले हमारे साथ था और अब हमारा विरोध कर रहा है।' राजा भी उन्हीं के मत को मानता था। राजा ने बुला कर अप्पर से पूछा। उन्होंने कहा 'जो स्वानुभूति होती है वह किसी बुद्धि और युक्ति से कट नहीं सकती। परमेश्वर के विषय में जो मेरा आन्तरिक भाव उदय हुआ है, वह अब हट नहीं सकता है।' जैन राजा ने उन्हें चूने के भट्टे में डाल दिया ! चूने के भट्टे में बड़ी तेज़ आग जलती है। जब तीन दिन बाद उसमें से निकाला तब भी वे वैसे के वैसे शान्त ! राजा ने पूछा—'अरे ! तुम्हें गरमी नहीं लगी?' उन्होंने कहा—'मैं जब अन्दर जा कर बैठा और उस हिमालय पर्वत पर रहने वाले भगवान् शंकर

का ध्यान करने लगा, तब मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मलय पवन के शीतल झोंके मेरे ऊपर आ रहे हो। बर्फ जैसी ठंडक का अनुभव कर रहा था। उनके हाथ से बजने वाली मधुर वीणा की झंकार से मेरा मन मस्त हो रहा था। अब तुमने मुझ उठाया तब पता लगा।' और भी तरह-तरह की यंत्रणायें उनको देने का प्रयत्न किया गया। अन्त में एक पागल हाथी उनके ऊपर छोड़ा गया। हाथी को देखते ही उनके मन में हुआ कि 'यह तो भगवान् शंकर का पुत्र गणेश ही मेरे पास आ रहा है।' उन्होंने उसे 'गणेशाय नमः' कह करके बड़े प्रेम से नमस्कार किया। वह पागल हाथी उनसे हट कर दूसरी तरफ़ चला गया। राजा को यह निश्चय हो गया कि वस्तुतः जो बात ये कह रहे हैं वह अनुभव के आधार पर कह रहे हैं।

अपना जो स्वानुभव होता है वह कभी भी मनुष्य को स्थिति से दूर नहीं कर सकता। जब तक मनुष्य को अनुभव नहीं होता है तभी तक सारी शंकायें सामने रहती हैं। अप्पर स्वतंत्र होकर जो उनका अनुभव था परमेश्वर के विषय में, उसका चारों तरफ सबको ज्ञान कराने लगे। जीवन के अन्दर जब उस परमात्मा के स्पर्श को मनुष्य प्राप्त करता है तब वास्तविक शांति की प्राप्ति होती है।

प्रारंभ कहाँ से करना है ? कार्य-कारणभाव के निश्चय से, प्रारब्ध के निश्चय से। प्रारब्ध का फल किससे मिलेगा ? परमेश्वर से मिलेगा। उस परमेश्वर का हमारे प्रति पूर्ण प्रेम है। इसलिये वह जो कर रहा है, वह हमारे कल्याण के लिये कर रहा है। अतः जो भी कष्टादि आते हैं उनके अन्दर तप की बुद्धि को बनाना

है। इतना ही नहीं, उसकी दया का अनुभव करना है कि वह इसके द्वारा हमारे ऊपर निरन्तर दया की वृष्टि कर रहा है। छोटी से छोटी चीज़ जीवन में देखते हैं तो उसकी दया का पता लगता है।

आचार्य सुरेश्वर लिखते हैं कि परमेश्वर की दया का पार नहीं और हमारी मूर्खता का भी पार नहीं ! कहते हैं कि जब परमेश्वर ने मनुष्य शरीर बनाया तो आँखों की जगह हीरे लगाये जा सकते थे। हमारे रक्त की धमनियों को सोने से बनाया जा सकता था, चाँदी से बनाया जा सकता था। अच्छी से अच्छी चीज़ों के द्वारा इस शरीर का निर्माण किया जा सकता था क्योंकि यह मनुष्य उनकी उत्तम कृति है, इसमें संदेह है नहीं। लेकिन परमेश्वर ने इसे सड़ने वाला, बिल्कुल कमज़ोर, बदबू वाली वसा इत्यादि इस प्रकार की चीज़ों से बनाया जो घृणास्पद ही होती हैं। भगवान् का भाव था कि मनुष्य को इस शरीर में किसी तरह का मोह न हो ! यदि इस शरीर के अन्दर हीरे की आँखें और सोने की नलियाँ होतीं और किसी को इसमें मोह होता तो बात समझ में आ जाती कि 'इतनी सुन्दर चीज़ है इसलिये लोगों को मोह हो गया'। परमेश्वर ने हम पर दया करके ऐसे शरीर का निर्माण किया कि जिसके प्रति मोह होने का कारण नज़र नहीं आता। जब शरीर निर्मित हो गया तब परमेश्वर ने विचार किया कि इसकी इस वसा के ऊपर, इसके मांस के ऊपर, इसकी इन धमनियों के ऊपर कभी मक्खियाँ बैठेंगी, ऊपर से कांव-कांव करके कौए आयेंगे इसे खाने के लिये, नीचे से कुत्ते दौड़ेंगे इसे खाने के लिये; इस बेचारे का बुरा हाल हो जायेगा ! तब एक छोटी-सी झिल्ली—एक मिलीमीटर

से भी कम झिल्ली—चमड़ी उसके ऊपर उन्होंने चढ़ा दी। बड़ी पतली झिल्ली चढ़ा दी जिससे मक्खी मच्छर इसे तकलीफ न देवें, कौवे ऊपर से झपट न पड़ें, कुत्ते इसकी तरफ न दौड़ें कि हमेशा वेचारा दण्डी बना घूमता रहे—कभी कौवे को उड़ावे तो कभी कुत्ते को भगावे ! दया करके उन्होंने बस एक पतली-सी झिल्ली चढ़ा दी। उनकी तो दया थी और उस एक अत्यंत पतली झिल्ली के पीछे हमने कितना मोह उत्पन्न कर लिया ! इन शरीरों के प्रति हमने अपनी कितनी आसक्ति कर ली ! बताओ इस मूर्खता का भी कोई अन्त है ? अन्दर के सारे सामान को नहीं देखते केवल झिल्ली को देखते हैं। जब मनुष्य परमेश्वर की इस दया के प्रति श्रद्धान्वित हो जाता है तब उसके अन्दर न किसी प्रकार की भयाक्रान्तता रहती है, न वह चिन्ता करता है। उसको किसी प्रकार की असुरक्षा नहीं होती। 'जब परमेश्वर ही दया करके सब कुछ मेरे लिये कर रहा है तो इससे श्रेष्ठ चीज़ मेरे लिए है ही नहीं'—यह निश्चय होने से कभी हीनभावना नहीं आती।

अपनी परम उन्नति के लिए हमें जितना अपेक्षित है उतना देने वाला परमेश्वर है। उससे अधिक तो नुकसान की चीज़ है! एक बार एक सज्जन हमारे पास आये, कहने लगे 'स्वामी जी! हमारा तो बड़ा नुकसान हो गया।' हमने पूछा क्या नुकसान हो गया ? बोले 'हमारी तनख्वाह डेढ़ सौ रुपया महीना बढ़ गई।' हमने कहा 'यह तो अच्छा हुआ।' कहने लगे 'क्या बतावें ! पहले हाथ में आते थे अठारह सौ रुपये, डेढ़ सौ बढ़ने से कर-स्तर बढ़ गया, अतः अब हमारे हाथ में तो साढ़े सोलह सौ रुपये ही आयेंगे।' आयकर इस हिसाब से लगता है कि अमुक सीमा पार होने पर

कर का प्रतिशत बढ़ जाता है। डेढ़ सौ रुपया महीना तनख्वाह बढ़ने से आमदनी तो सचमुच में कम हो गई। ठीक यही हालत हम लोगों की है। हम लोग चाहते हैं हमें और पदार्थ मिल जायें, लेकिन वे हमारा क्या नुकसान करेंगे यह हम नहीं सोच पाते हैं। इसलिए जो हमें उत्तम बनाने के लिए अपेक्षित है उसे तो परमेश्वर दया से देगा ही, दे रहा है ही। उससे अधिक हमारे लिए अपेक्षित नहीं बल्कि हमारे लिए नुकसान की चीज़ है।

आचार्य नीलकंठ लिखते हैं कि किसी गोद के, छह महीने के छोटे बच्चे का पेट खराब हो जाये तो कोई उसे थोड़े ही डाँटता है कि 'तूने दूध ज़्यादा क्यों पी लिया?' माँ को ही कहा जाता है कि 'तू इसे ठीक ढंग से दूध पिलाया कर। आवश्यकता से अधिक देकर इसका पेट मत खराब किया कर'। इसी प्रकार स्वयं परमात्मा हमारा रक्षण कर रहा है। इसलिए जितना अपेक्षित है उतना दे रहा है। मन में ज़्यादा दूध पीने के होवे तो भी माता शिक्षित है तो ज़्यादा नहीं पिलायेगी, पेट खराब नहीं होने देगी। इसी प्रकार जितना हमें अपेक्षित है उतना परमेश्वर देंगे। वे दयालु हैं अतः उससे ज़्यादा की हमारी इच्छा होगी तो भी देंगे नहीं क्योंकि हमारे लिए हानिप्रद है। जैसे-जैसे यह दृढता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे जीवन के अन्दर शांति का विकास होता चला जाता है। आचार्य शंकर इसीलिए कहते हैं 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।' हम क्यों निरंतर अर्थ की तरफ दौड़ रहे हैं ? हम सोचते हैं उससे सुख मिलेगा। एक बार जब निश्चय हो जायेगा कि सुख का कारण तो पुण्य है, परमेश्वर की कृपा है, उसका कारण अर्थ नहीं है तब अर्थ के पीछे दौड़ना छूटेगा।

यदि अर्थ के कारण सुख होता तो संसार में जितने अर्थवान् व्यक्ति हैं वे सुखी देखे जाते। उल्टा देखा क्या जाता है ? यह बात आज किसी ने नहीं लिखी है, बारह सौ साल पहले की बात है—'पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः।' आचार्य कहते हैं अरे! धन से बाकी लोगों को छोड़ो, अपने लड़कों से डर लगता है ! आज जब कभी कोई बात आती है तो लोग कहते हैं 'ज़माना ख़राब हो गया।' लेकिन बारह सौ साल पहले भी यही बात रही। जैसे-जैसे इस का निश्चय होता जाता है वैसे-वैसे शांति आती जाती है। इन सोपानों से चलकर ही शांति प्राप्त हो सकती है, मानसिक शांति का यही एकमात्र उपाय है।

